संक्षिप्त

आत्मकथा



गांधीजी



गांधीजीकी

संक्षिप्त आत्मकथा

संक्षेपकार

मथुरादास त्रिकमजी

अनुवादक

काशिनाथ त्रिवेदी



नवजीवन प्रकाशन मंदिर

अहमदाबाद – ३८००१४

मुद्रक और प्रकाशक
जितेन्द्र ठाकोरभाई देसाई
नवजीवन मुद्रणालय, अहमदाबाद-३८००१४

पहली आवृत्ति १९५१
आठवाँ पुनर्मुद्रण २०,०००
कुल प्रतियां ३,१५,०००



तीन रुपये

फरवरी, १९८३

प्रकाशकका निवेदन

पाठक-समुदायके प्रकारोंको ध्यानमें रखकर गांधीजीकी 'आत्मकथा' का उस दृष्टिसे दोहन अथवा सम्पादन किया जाय, तो उसका बहुत व्यापक प्रचार हो सकता है। इस दृष्टिसे विद्यार्थियों और युवकोंको ध्यानमें रखकर स्वर्गीय महादेवभाई देसाईने अंग्रेजीमें 'माई अर्ली लाइफ' के नामसे 'आत्मकथा' का पूर्वकाण्ड तैयार किया था। गुजरातीमें भी उसी प्रकारके और दूसरे प्रकारके सम्पादनके लिए अवकाश है। श्री मथुरादासभाईका यह प्रयत्न ऐसा ही है। इसके विषयमें उन्होंने अपनी भूमिकामें लिखा ही है। ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने इस पुस्तकको तैयार करते समय जो मुख्य दृष्टि अपने सामने रखी, वह यही है कि गांधीजीने अपने जीवनका विकास जिस प्रकार सिद्ध किया, उसका समूचा चित्र इसमें आ जाय। गुजरातीमें यह सारा दोहन गांधीजीके मूल शब्दोंमें ही हुआ है। विद्यार्थियों और प्रौढ़ोंके लिए भी यह उपयोगी सिद्ध होगा। आशा है, पाठकोंको यह दोहन पसन्द आवेगा।

'संक्षिप्त आत्मकथा' का हिन्दी संस्करण प्रकाशित करते हुए हमें बड़ा आनन्द हो रहा है। आशा है, अपने इस राष्ट्रीय रूपमें यह पुस्तक सारे देशके विद्यार्थियों और नौजवानोंके लिए उपयोगी और प्रेरक सिद्ध होगी।

१५-१२-'५१

पुस्तकके बारेमें

बापूकी 'आत्मकथा' एक बड़ा ग्रंथ है। इस पुस्तकमें उसका सार तैयार किया गया है। ऐसा करते समय बापूके लेखन-क्रम, भाषा इत्यादिको प्रायः मूलके जैसा ही रखा गया है। केवल विषयको संक्षिप्त करने और सिलसिला जोड़नेके लिए कहीं-कहीं नयी भाषाका प्रयोग किया गया है। अतः सहज रूपसे यह कहा जा सकता है कि इस 'संक्षिप्त आत्मकथा' का ९९.९९ से भी अधिक भाग मूलका अवतरण ही है।

इस 'संक्षिप्त आत्मकथा' को नये ढंगसे विभक्त किया गया है और कुछ अध्यायोंको उनके विषयोंके अनुरूप नये नाम दिये गये हैं। अध्यायोंकी गिनती प्रत्येक खण्डकी अलग-अलग न करके समूची पुस्तककी एक ही रखी गई हैं।

बापूकी 'आत्मकथा' एक ऐसा ग्रंथ है, जो बापूको समझनेमें बहुत सहायक होता है। इसका संक्षिप्त संस्करण तैयार करनेका यह प्रयास इस अभिलाषासे किया गया है कि यह विशिष्ट व्यक्तियोंको और खासकर नयी पीढ़ीको बापूका अभ्यास करनेके लिए प्रेरित करे।

७४, वालकेश्वर रोड, बम्बई, १२-९-'४९

मथुरादास त्रिकमजी

प्रस्तावना

मैंने सत्यके जो अनेक प्रयोग किये हैं, 'आत्मकथा' के बहाने मुझे उनकी कथा लिखनी है। मैं यह मानता हूं कि जनताके सामने मेरे सब प्रयोगोंका पूरा लेखा हो, तो वह लाभदायक हो सकता है—अथवा यों कहिये कि मुझे ऐसा मोह है। राजनीतिक क्षेत्रके मेरे प्रयोगोंको तो अब हिन्दुस्तान जानता है। लेकिन मेरे आध्यात्मिक प्रयोगोंका, जिन्हें केवल मैं ही जान सकता हूं और जिनमेंसे राजनीतिक क्षेत्रकी मेरी शक्ति भी पैदा हुई है, वर्णन कर जाना मुझे पसन्द होगा। जैसे-जैसे मैं अपने भूतकालिक जीवन पर दृष्टि डालता जाता हूं, वैसे-वैसे मैं अपनी अल्पताको शुद्ध रूपमें देख सकता हूं। मुझे जो करना है, जिसके लिए मैं पिछले ३० वर्षोंसे छटपटा रहा हूं, वह तो आत्म-दर्शन है, ईश्वरका साक्षात्कार है, मोक्ष है। मेरी सारी हल-चल इसी दृष्टिसे होती है। मेरा सब लेखन इसी दृष्टिको लेकर होता है, और राजनीतिक क्षेत्रमें मेरा पड़ना भी इसी वस्तुके अधीन है।

शुरूसे ही मेरी यह राय रही है कि जो एकके लिए शक्य है वह सबके लिए शक्य है। इस कारण मेरे प्रयोग खानगी नहीं हुए, नहीं रहे। हां, ऐसी कुछ वस्तुएं अवश्य हैं, जिन्हें मेरी आत्मा ही जानती है, जो आत्मामें ही समा जाती हैं। लेकिन ऐसी वस्तु देना मेरी शक्तिसे परे है। मेरे प्रयोगोंमें तो आध्यात्मिकका अर्थ नैतिक है; धर्म अर्थात् नीति; आत्माकी दृष्टिसे पाली गई नीति ही धर्म है। अतएव जिन वस्तुओंका निर्णय बालक, नौजवान और बूढ़े करते हैं और कर सकते हैं, इस कथामें उन्हीं वस्तुओंका समावेश होगा। अगर ऐसी कथा मैं तटस्थ भावसे, निरभिमान बनकर लिख सकूं, तो सम्भव है उसमें से दूसरे प्रयोगकर्ताओंके लिए कुछ सामग्री मिले।

अपने प्रयोगोंके लिए मैं किसी प्रकारकी सम्पूर्णताका दावा करता ही नहीं। मैंने बहुत आत्म-निरीक्षण किया है, एक-एक भावको जांचा-पड़ताला है, उसका पृथक्करण किया है। लेकिन उससे उत्पन्न परिणाम सबके लिए अंतिम ही हैं, वे सही हैं अथवा केवल वे ही सही हैं, इस प्रकारका कोई दावा

मैं कभी करना नहीं चाहता। मैं तो पग-पग पर जिन चीजोंको देखता हूं, उन्हें त्याज्य और ग्राह्यके नामसे दो हिस्सोंमें बांट देता हूं; और जिसे ग्राह्य वस्तु समझता हूं उसके अनुसार अपने आचारका निर्माण करता हूं। और जहां तक इस प्रकार निर्मित आचार मुझे, अर्थात् मेरी बुद्धिको और आत्माको, सन्तुष्ट रखते हैं वहां तक उनके शुभ परिणामके विषयमें मुझे अटल विश्वास रखना ही चाहिये।

मैंने इस प्रयत्नको 'सत्यके प्रयोग' का पहला नाम दिया है। इसमें सत्यसे भिन्न माने जानेवाले अहिंसा, ब्रह्मचर्य इत्यादि नियमोंके प्रयोग भी शामिल रहेंगे। किन्तु मेरे मन सत्य ही सर्वोपरि है और उसमें अनगिनत वस्तुओंका समावेश हो जाता है। यह सत्य स्थूल — वाचिक — सत्य नहीं है। यह तो वाचाकी भांति ही विचारका भी सत्य है। यह सत्य केवल हमारे द्वारा कल्पित सत्य ही नहीं, बल्कि स्वतंत्र चिरस्थायी सत्य है; अर्थात् परमेश्वर ही है।

परमेश्वरकी परिभाषायें अनगिनत हैं, क्योंकि उसकी विभूतियां भी असंख्य हैं। ये विभूतियां मुझे आश्चर्यचकित करती हैं। ये मुझे क्षणभर मुग्ध भी करती हैं। लेकिन मैं पुजारी तो सत्यरूपी परमेश्वरका ही हूं। वही एक सत्य है और दूसरा सब मिथ्या है। यह सत्य मुझे मिला नहीं है, लेकिन मैं इसका शोधक हूं। इसकी शोधके लिए मैं अपनी प्रिय-से-प्रिय वस्तुका भी त्याग करनेको तैयार हूं और मुझे विश्वास है कि इस शोध-रूपी यज्ञमें अपने इस शरीरको होमनेकी मेरी तैयारी और शक्ति है। लेकिन जब तक मैं इस सत्यका साक्षात्कार न कर लूं, तब तक मेरी अन्तरात्मा जिसे सत्य मानती है उस काल्पनिक सत्यको अपना आधार मानकर, अपना दीपस्तम्भ समझकर, उसके सहारे मैं अपना जीवन बिता रहा हूं।

यद्यपि यह मार्ग तलवारकी धार पर चलने जैसा है, फिर भी मुझे तो यह सरल-से-सरल मालूम हुआ है। इस मार्ग पर चलते हुए मुझे अपनी भयंकर भूलें भी न-कुछ-सी लगी हैं; क्योंकि वैसी भूलें करके भी मैं बच गया हूं और अपनी समझमें आगे भी बढ़ा हूं। दूर-दूरसे विशुद्ध सत्यकी — ईश्वरकी — झांकी भी मैं कर रहा हूं। मेरा यह विश्वास दिन-प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है कि इस दुनियामें एक सत्य ही है, उसके सिवा दूसरा कुछ भी नहीं है।

सत्यकी शोधके साधन जितने कठिन हैं उतने ही सरल भी हैं। अभिमानीको यह असम्भव लगेगा और एक निर्दोष बालकको नितान्त सम्भव। सत्यके शोधकको रजकणसे भी नीचे रहना पड़ता है। समूचा जगत रजकणको कुचलता है, लेकिन सत्यका पुजारी जब तक इतना अल्प नहीं बनता कि रजकण भी उसे कुचल सके, तब तक उसके लिए स्वतंत्र सत्यकी झांकी भी दुर्लभ है।

आगे मैं जो अध्याय लिखनेवाला हूं, उनमें यदि पाठकोंको अभिमानका भास हो, तो उन्हें निश्चय ही यह समझना चाहिये कि मेरी शोधमें त्रुटि है और मेरी झांकियां मृगजलके समान हैं। मेरे समान अनेकोंका क्षय चाहे हो, पर सत्यकी जय हो। अल्पात्माको नापनेके लिए सत्यका गज कभी छोटा न बने।

कहने योग्य एक भी बात मैं छिपाऊंगा नहीं। आशा तो यह है कि मैं पाठकोंको अपने दोषोंका पूरा-पूरा बोध करा सकूंगा। मुझे सत्यके शास्त्रीय प्रयोगोंका वर्णन करना है; मुझे यह बतानेकी तिलभर भी इच्छा नहीं है कि मैं कितना अच्छा या भला हूं; जिस गजसे मैं अपनेको मापना चाहता हूं, उसके अनुसार तो मैं अवश्य ही यह कहूंगा कि:

'मो सम कौन कुटिल खल कामी?
जिन तनु दियो ताहि बिसरायो,
ऐसो निमकहरामी।'

क्योंकि यह प्रतीति मुझे प्रतिक्षण खलती रहती है कि जिसे मैं सम्पूर्ण विश्वासपूर्वक अपने श्वासोच्छ्वासका स्वामी मानता हूं, जिसे मैं अपने नमकका देनेवाला मानता हूं, उससे मैं अभी भी दूर ही हूं। इसके कारणरूप अपने विकारको मैं देख सकता हूं, किन्तु उसे अभी भी अपने भीतरसे मैं निकाल नहीं पाता हूं।

आश्रम, साबरमती, **मोहनदास करमचन्द गांधी**
मार्गशीर्ष शुक्ल ११, १९८२

अनुक्रमणिका

४ : दक्षिण अफ्रीकामें

५ : देशमें कार्य

६ : दक्षिण अफ्रीकामें दूसरी बार

७ : देशमें निवास

८ : दक्षिण अफ्रीकामें तीसरी बार

९ : देशमें स्थायी निवास

संक्षिप्त आत्मकथा

१ : पहले उन्नीस वर्ष

१. जन्म

मेरा जन्म संवत् १९२५के भादों महीनेकी वदी १२ के दिन अर्थात् सन् १८६९ के अक्तूबर महीनेकी २ तारीखको पोरबन्दर अथवा सुदामापुरीमें हुआ।

पिता पोरबन्दरके दीवान थे; बादमें राजकोटके और कुछ समय तक वांकानेरके दीवान रहे। वे कुटुम्ब-प्रेमी, सत्यप्रिय, शूर, उदार, किन्तु क्रोधी थे। वे घूसखोरीसे दूर भागते थे, इसलिए शुद्ध न्याय करते थे। उनकी शिक्षा मात्र अनुभवकी थी। जिसे आज हम गुजरातीकी पांच किताबका ज्ञान कहते हैं, उतनी शिक्षा उन्होंने पाई होगी। तिस पर भी व्यावहारिक ज्ञान इतने ऊंचे प्रकारका था कि सूक्ष्मसे सूक्ष्म प्रश्नोंको सुलझानेमें या हजार आदमियोंसे काम लेनेमें उन्हें कोई कठिनाई न होती थी। धार्मिक शिक्षा नहींके बराबर थी। लेकिन मंदिरमें जाने और कथा आदि सुननेसे जो धर्मज्ञान असंख्य हिन्दुओंको सहज ही मिलता रहता है वह उनमें था। उन्होंने द्रव्य एकत्र करनेका लोभ कभी नहीं रखा। इस कारण हम भाइयोंके लिए वे बहुत थोड़ी सम्पत्ति छोड़ गये थे।

माता साध्वी स्त्री थी। वह बहुत श्रद्धालु थी। पूजापाठ किये बिना कभी भोजन न करती। मंदिरमें हमेशा जाती। वह कठिनसे कठिन व्रत शुरू करती और उन्हें निर्विघ्न समाप्त करती। इकट्ठे दो-तीन उपवास उसके निकट मामूली चीज थी। एक चातुर्मासमें उसने सूर्य-नारायणका दर्शन करनेके बाद ही भोजन करनेका व्रत लिया था। उस चौमासेमें हम बालक बादलोंकी ओर देखा करते कि कब सूरज दिखाई पड़े और कब मां भोजन करे। ऐसे दिन याद हैं कि जब हम सूरजको देखते और 'मां, मां, सूरज निकला!' कहते और मां कदम बढ़ाती हुई आती, इतनेमें सूरज भाग जाता। 'कोई बात नहीं, आज भाग्यमें भोजन बदा नहीं होगा'—कहकर मां लौट जाती और अपने काममें डूब जाती।

मेरा बचपन पोरबन्दरमें ही बीता था। मुझे किसी पाठशालामें भरती किया गया था। मुश्किलसे कुछ पहाड़े मैं सीखा था। उन दिनों लड़कोंके साथ मैं शिक्षकको गाली भर देना सीखा था। और कुछ भी याद नहीं पड़ता। इससे अनुमान करता हूं कि मेरी बुद्धि मन्द रही होगी।

२. बचपन

जब पिताजी राजकोट गये तब मेरी उमर कोई सात सालकी रही होगी। मुझे राजकोटकी गांवठी शालामें भरती किया गया। वहां मेरी गिनती मुश्किलसे ही साधारण छात्रोंमें हुई होगी। गांवठी शालासे उपनगरकी शालामें और वहांसे हाईस्कूलमें। यहां तक पहुंचते हुए मेरा बारहवां वर्ष बीत चुका था। इस उमर तक मैंने कभी भी शिक्षकोंको ठगा नहीं और न कोई मित्र ही बनाये। मैं बहुत ही शरमीला लड़का था। पाठशालामें अपने कामसे ही काम रखता था। घण्टी बजते समय पहुंचना और पाठशालाके बन्द होने पर घर भागना। मुझे किसीसे बातें करना अच्छा न लगता था। मनमें यह डर बना रहता था कि 'कहीं कोई मेरा मजाक तो न उड़ायेगा?'

हाईस्कूलके पहले ही वर्षमें शिक्षा-विभागके इन्स्पेक्टर स्कूलका निरीक्षण करने आये। उन्होंने पहली कक्षाके लड़कोंको पांच अंग्रेजी शब्द लिखाये। उनमें से एक शब्दके हिज्जे मैंने गलत लिखे। शिक्षकने मुझे अपने बूटकी नोक मारकर चेताया, पर मैं क्यों चेतने लगा? मुझे यह खयाल ही न आ सका कि शिक्षक मुझे सामनेवाले लड़केकी पट्टी देखकर हिज्जे सुधार लेनेका इशारा कर रहे हैं। मैंने तो यह माना था कि शिक्षक इस बातकी निगरानी रख रहे हैं कि हम एक-दूसरेकी चोरी न करें। शिक्षकने बादमें मुझे अपनी 'मूर्खता' समझायी; लेकिन मेरे मन पर उनके समझानेका कोई असर न हुआ। मैं दूसरे लड़कोंकी कापीमें से चोरी करना कभी सीख न सका।

इस सबके रहते भी मैं शिक्षकके प्रति अपना विनय कभी न चूका। बड़ोंके दोष न देखनेका गुण मुझमें सहज ही था। मैं यह समझ चुका था कि बड़ोंकी आज्ञाका पालन करना चाहिए। वे जो कहें सो करना; करें उसके काजी खुद न बनना।

साधारणतः पाठशालाकी पुस्तकोंके सिवा और कुछ पढ़नेका मुझे शौक न था। मैं पाठ इसलिए पढ़ता था कि पाठ तैयार करने चाहिये, उलाहना न सहना चाहिये, शिक्षकको धोखा न देना चाहिये। लेकिन मन अलसा जाता और पाठ अक्सर कच्चे रह जाते थे। किन्तु पिताजी द्वारा खरीदा गया 'श्रवण-पितृभक्ति' नाटक पढ़नेकी इच्छा मुझे हुई। उसे मैं अतिशय रस-पूर्वक पढ़ गया। कांचमें चित्र दिखानेवालेसे मैंने वह दृश्य भी देखा, जिसमें श्रवण अपने माता-पिताको कांवरमें बैठाकर ले जाता है। मुझ पर इन दोनों बातोंकी गहरी छाप पड़ी और मनमें विचार आने लगे कि 'मुझे भी श्रवणके समान बनना चाहिये।'

इन्हीं दिनों मैंने 'हरिश्चन्द्र' नाटक देखा। उसे बार-बार देखनेकी इच्छा होने लगी। पर यों बार-बार तो कौन जाने देता? फिर भी अपने मनमें मैंने इस नाटकको सैकड़ों बार खेला होगा। मुझे हरिश्चन्द्रके सपने आते। मनमें एक ही धुन रहती — 'हरिश्चन्द्रकी तरह सत्यवादी सब क्यों नहीं हो सकते?' जैसी विपत्तियां हरिश्चन्द्र पर पड़ीं, वैसी विपत्तियोंको सहना और सत्यका पालन करना ही वास्तविक सत्य है। हरिश्चन्द्रका दु:ख देखकर और उसकी याद करके मैं बहुत रोया हूं।

३. बाल-विवाह

१३ वर्षकी उमरमें पोरबन्दरमें मेरा विवाह हुआ। मेरे मझले भाईका, मेरे काकाजीके छोटे लड़केका और मेरा विवाह एकसाथ हुआ। इन तीनों विवाहोंकी तैयारियां कई महीनोंसे चल रही थीं। हम भाइयोंको तो इन तैयारियोंसे ही पता चला कि विवाह होनेका है। उस समय मेरे मनमें तो इतना ही था कि अच्छे-अच्छे कपड़े पहनेंगे, बाजे बजेंगे, अच्छा भोजन मिलेगा और एक नई लड़कीके साथ विनोद करनेको मिलेगा — इससे अधिक और कोई अभिलाषा न थी। विषय भोगनेकी वृत्ति तो बादमें पैदा हुई।

ब्याह होने पर दो निर्दोष बालकोंने अनजाने संसारमें प्रवेश किया। हम दोनों एक-दूसरेसे डरते थे; शरमाते तो थे ही। धीरे-धीरे एक-दूसरेको पहचानने लगे; एक-दूसरेसे बोलने लगे। हम दोनों समान उम्रके हैं। पर मैंने पतिकी ठसकसे रहना शुरू किया।

उन दिनों निबन्धोंकी छोटी पुस्तिकाएं निकलती थीं। उनमें से कुछ निबंध मेरे हाथमें आते और मैं उन्हें पढ़ डालता। यह आदत तो थी ही कि पढ़ने पर जो पसन्द न आये उसे भूल जाना और जो पसन्द आये उस पर अमल करना। पढ़ा था कि एकपत्नी-व्रत पालना पतिका धर्म है। हृदयमें यह बात रमी रही। सत्यका शौक तो था ही, इसलिए पत्नीके साथ विश्वासघात हो ही नहीं सकता था; इसी कारण यह भी समझमें आ चुका था कि दूसरी स्त्रीके साथ संबन्ध नहीं रह सकता।

लेकिन मुझे एकपत्नी-व्रत पालना है, तो पत्नीको एकपति-व्रत पालना चाहिये। इस विचारके कारण मैं ईर्ष्यालु पति बन गया। 'पालना चाहिये' में से 'पलवाना चाहिये' के विचार पर मैं आ पहुंचा। और अगर पलवाना है, तो मुझे निगरानी रखनी चाहिये। पत्नीकी पवित्रताके बारेमें शंका करनेका कोई कारण मेरे पास नहीं था। लेकिन ईर्ष्या कारण देखनेके लिए कहां ठहरती

है? फलतः हमारे बीच दुःखद झगड़े होते और हम बच्चोंके बीच अबोला मामूली चीज बन जाता।

लेकिन मेरी वक्रताका मूल प्रेममें था। मैं अपनी पत्नीको आदर्श स्त्री बनाना चाहता था; और भावना यह थी कि हम दोनों एक-दूसरेमें ओतप्रोत रहें।

मैं अपनी स्त्रीके प्रति विषयासक्त था। इस आसक्तिके साथ ही मुझमें कर्त्तव्य-परायणता थी। सवेरा होते ही नित्यकर्म तो करने ही चाहिये। किसीको ठगा ही नहीं जा सकता। अपने इन विचारोंके कारण मैं अनेक संकटोंसे बचा हूं। फिर, प्रचलित प्रथाके अनुसार पत्नीको बार-बार मायके जाना होता था; इससे आसक्ति पर सहज ही अंकुश रहता। विवाहके पहले छः वर्षोंमें हम अलग अलग समयमें कुल मिलाकर तीन सालसे अधिक एकसाथ नहीं रहे होंगे।

४. हाईस्कूलमें

ब्याहके बाद मेरी पढ़ाई जारी रही। हाईस्कूलमें मेरी गिनती बुद्धू छात्रोंमें नहीं होती थी। विद्यार्थीकी पढ़ाई और आचरणके बारेमें हर साल माता-पिताके पास प्रमाणपत्र भेजे जाते थे। उनमें कभी आचरण या अभ्यास खराब होनेकी टीका मेरे विषयमें नहीं हुई। मुझे अपनी होशियारीका कोई गर्व न था। इनाम या छात्रवृत्ति मिलने पर मुझे आश्चर्य होता था। लेकिन अपने व्यवहारके बारेमें मैं बहुत आग्रही था। अपने व्यवहारमें त्रुटि पाकर तो मुझे बरबस रुलाई आ ही जाती थी। मेरे लिए यह असह्य था कि मेरे हाथों ऐसा कोई भी काम हो, जिसके लिए शिक्षकोंको मुझे उलाहना देना पड़े। एक बार मुझे मार खानी पड़ी थी। मुझे मारका दुःख नहीं था, लेकिन इस बातका मुझे बड़ा दुःख हुआ कि मैं दण्डका पात्र समझा गया। मैं बहुत रोया। यह घटना पहली या दूसरी कक्षाकी है।

कसरतसे मुझे अरुचि थी। ऊंची कक्षाके विद्यार्थियोंके लिए कसरत-क्रिकेट अनिवार्य बननेसे पहले मैं कभी कसरत, क्रिकेट या फुटबॉलमें गया ही न था। न जानेमें मेरा शरमीला स्वभाव भी एक कारण था।

लेकिन पुस्तकोंमें मैंने खुली हवामें घूमने जानेकी सलाह पढ़ी थी और वह मुझे अच्छी लगी थी। इसलिए हाईस्कूलकी ऊंची कक्षाओंके समयसे मुझे घूमने जानेकी आदत पड़ गई थी। वह अन्त तक रही। इसकी वजहसे मेरा शरीर अपेक्षाकृत कसा हुआ बना।

अरुचिका दूसरा कारण था पिताजीकी सेवा करनेकी तीव्र इच्छा। स्कूलके बन्द होते ही तुरन्त घर पहुंचकर मैं उनकी सेवामें लग जाता था।

जब कसरत लाजिमी हो गई, तो पिताजीकी इस सेवामें विघ्न पड़ा। मैंने प्रार्थना की कि पिताजीकी सेवाके लिए कसरतसे छुट्टी मिलनी चाहिये, परंतु छुट्टी न मिली। एक बार आसमानमें बादल छाये हुए थे, इस कारण समयका कुछ अन्दाज न रहा। कसरतकी जगह पहुंचा, तो देखा कि सब चले गये हैं। दूसरे दिन हेडमास्टरने मुझसे गैर-हाजिर रहनेका कारण पूछा। मैंने तो जो था वही कारण बताया। हेडमास्टरने उसे सच न माना और मुझे सजा दी। मैं झूठा ठहरा! मुझे अतिशय दुःख हुआ। किस तरह सिद्ध करूं कि 'मैं झूठा नहीं हूं?' कोई उपाय न सूझा। मन ही मन मुस-मुसाकर रह गया; रोया। समझा कि सच बोलने और सच करनेवालेको गाफिल भी न रहना चाहिये।

कसरतसे मुक्ति तो प्राप्त की ही। हेडमास्टरको पिताजीका पत्र मिला कि स्कूलके समयके बाद वे स्वयं मेरी उपस्थिति अपनी सेवाके लिए आवश्यक समझते हैं। बस, इस पत्रके कारण मुझे मुक्ति मिल गई।

ब्याहके कारण मेरा एक साल टूट गया था। दूसरी कक्षामें शिक्षकने मेरे सामने यह सुझाव रखा कि मैं एक ही सालमें तीसरी और चौथी कक्षाकी तैयारी कर लूं। लेकिन भूमिति मेरी समझमें न आती थी। इस कारण मैं अक्सर निराश हो उठता था। कभी यह विचार आता कि एक सालमें दो कक्षाओंकी तैयारी करना छोड़ दूं। लेकिन ऐसा करनेसे मेरी लाज जाती और जिन्होंने मेरी लगन पर विश्वास रखकर मुझे चढ़ानेकी सिफारिश की थी, उन शिक्षककी भी लाज जाती। इस डरके कारण मैं किये हुए विचार पर डटा रहा। प्रयत्न करते-करते भूमितिकी कठिनाई दूर हो गई और फिर तो भूमिति मेरे लिए एक सरल और सरस विषय बन गया।

संस्कृतने मुझे भूमितिसे भी अधिक परेशान किया। छठी कक्षामें मैं हारा। यह सुनकर कि फारसी आसान है, मैं उसकी ओर ललचाया और एक दिन फारसीकी कक्षामें जा बैठा। संस्कृत-शिक्षकको दुःख हुआ। उन्होंने कहा — "यह तो सोच कि तू लड़का किसका है। क्या तू अपने धर्मकी भाषा न सीखेगा? तेरी कठिनाई क्या है, सो मुझे बता।" मैं शरमाया; शिक्षकके प्रेमकी अवगणना न कर सका। मैंने संस्कृत सीखना जारी रखा।

५. दुःखद प्रसंग

हाईस्कूलमें जिसे मित्रता कहा जा सकता है, ऐसे मेरे दो मित्र अलग-अलग वक्तमें थे। एकका सम्बन्ध लम्बे समय तक न चला। मैंने दूसरेकी सोहबत की, इस कारण पहलेने मुझे छोड़ दिया। दूसरेकी सोहबत कई साल तक रही। इस सोहबतमें मेरी दृष्टि सुधारककी थी। मैं यह देख सका था कि उस भाईमें कुछ दोष थे। लेकिन मैंने उसमें अपनी निष्ठाका आरोपण किया था। मेरी माताजी, बड़े भाई और मेरी पत्नी — तीनोंको मेरी यह सोहबत कड़वी लगती थी। मैंने सबको यह कहकर आश्वस्त किया कि 'वह मुझे गलत रास्ते नहीं ले जायगा, क्योंकि उसके साथ मेरा सम्बन्ध केवल उसे सुधारनेके लिए ही है।' सबने मुझ पर विश्वास किया और मुझे अपनी राह जाने दिया। बादमें मैं देख सका कि मेरा अनुमान ठीक न था।

जिन दिनों मैं इस मित्रके सम्पर्कमें आया था, उन दिनों राजकोटमें 'सुधारक पंथ' का जोर था। इस मित्रने मुझे बताया कि जिन गृहस्थों आदिके बारेमें यह माना जाता है कि वे मांसाहार और मद्यपान नहीं करते हैं, वे छिपे तौर पर यह सब करते हैं। मुझे तो इससे आश्चर्य हुआ और दुःख भी। परन्तु मित्रने मांसाहारकी प्रशंसा और वकालत अनेक उदाहरणोंसे सजाकर कई बार की। उसके शारीरिक पराक्रम मुझे मुग्ध किया करते थे। जो शक्ति अपनेमें नहीं होती, उसे दूसरेमें देखकर मनुष्यको आश्चर्य होता ही है। वही हाल मेरा हुआ। आश्चर्यमें से मोह पैदा हुआ।

फिर, मैं बहुत डरपोक था। चोरके, भूतके, सांप वगैराके डरोंसे घिरा रहता था। ये डर मुझे सताते भी खूब थे। रात कहीं अकेले जानेकी हिम्मत न होती थी। अन्धेरेमें तो कहीं जाता ही न था; और दीयेके बिना सोना लगभग असम्भव था। मेरे इस मित्रको मेरी इन कमजोरियोंका पता था। उसने मुझे यह जंचा दिया कि मांसाहारके प्रतापसे ही वह इन कमजोरियोंसे मुक्त है। मैं पिघला।

मांसाहार करनेका दिन निश्चित हो गया।

मेरे संस्कार इसके बिलकुल ही विपरीत थे। गांधी-परिवार वैष्णव सम्प्रदायका था। यह सम्प्रदाय मांसाहारका निरपवाद विरोध और तिरस्कार करनेवाला था। माता-पिता बहुत ही कट्टर माने जाते थे। मैं उनका परम भक्त था। मैं यह मानता था कि यदि कहीं उन्हें मेरे मांसाहारकी बात मालूम हो गई, तो वे बिना मौतके तत्काल ही मर जायेंगे। मैं जाने-अनजाने सत्यका सेवक तो था ही। अतएव मैं यह तो नहीं कह सकता कि मांसाहार करनेसे माता-पिताको ठगना होगा, इस बातका ज्ञान मुझे उस समय न था।

ऐसी स्थितिमें मांसाहार करनेका निश्चय मेरे लिए बहुत गंभीर और भयंकर वस्तु थी।

लेकिन मुझे तो सुधार करना था। मांसाहारका शौक नहीं था। मैं तो बलवान और हिम्मतवाला बनना चाहता था; दूसरोंको ऐसा बननेके लिए न्योतना चाहता था; और फिर अंग्रेजोंको हराकर हिन्दुस्तानको स्वतंत्र करना चाहता था। सुधारके इस जोशमें मैं होश खो बैठा।

चोरोंकी तरह छिपकर काम करना मुझे अच्छा नहीं मालूम होता था। मैं उसे शर्मकी बात समझता था। लेकिन इस समय सुधारका उत्साह और जीवनमें महत्त्वका फेरफार करनेका आकर्षण भी जोर पर था। मैंने मांसाहार शुरू किया और एक वर्षमें पांच-छह बार मांस खाया।

जब-जब इस प्रकारका खाना खाया जाता, तब-तब घरमें भोजन करनेकी बात जमती ही न थी। जब मां खानेके लिए बुलाती तो 'आज भूख नहीं है', 'हजम नहीं हुआ है' — इस तरहके बहाने बनाने पड़ते थे। जब-जब मुझे यह कहना पड़ता, तब-तब दिलको भारी आघात पहुंचता था। मांके सामने ऐसा झूठ! फिर, अगर माता-पिताको मालूम हो जाय कि लड़का मांसाहारी हो गया है, तब तो उन पर बिजली ही टूट पड़ेगी। इस तरहके विचार मेरे हृदयको अन्दरसे खोखला बना रहे थे। इसलिए मैंने निश्चय किया — 'मांस खाना आवश्यक है; उसका प्रचार करके हिन्दुस्तानको सुधारेंगे; लेकिन माता-पिताको धोखा देना और झूठ बोलना मांस खानेसे भी बुरा है। इसलिए माता-पिताके जीते-जी मांस नहीं खाया जा सकता। उनकी मृत्युके बाद स्वतंत्र होने पर खुले तौर पर मांस खाना ठीक होगा और जब तक वह समय न आवे तब तक मांसाहारका त्याग करना उचित है।' मैंने मित्रको अपना यह निश्चय जता दिया और तबसे मांसाहार जो छूटा सो छूट ही गया। माता-पिता तो इस बातको कभी जान ही नहीं पाये।

माता-पिताको धोखा न देनेके शुभ विचारसे प्रेरित होकर मैंने मांसाहार छोड़ा; लेकिन उस मित्रकी मित्रता नहीं छोड़ी।

इसी सोहबतके कारण मैं व्यभिचारमें भी फंस जाता। मित्रने मुझे पापघरमें भेजा! मैं वहां गया, लेकिन बिना गिरे लौट आया। ईश्वर जिसे बचाना चाहता है, वह गिरना चाहे तो भी पवित्र रह सकता है। इस तरह बच जानेके लिए मैंने सदा ही ईश्वरका आभार माना है।

इतना सब होने पर भी मुझे इस बातका होश न हुआ कि इस मित्रकी मित्रता अनिष्ट है। ऐसा होनेसे पहले मुझे अभी और कड़वे अनुभव लेने थे।

पति-पत्नीके नाते हम दोनोंके बीच जो कुछ दुराव पैदा होता और कलह जागता, उसका एक कारण यह मित्रता भी थी। मैं जितना प्रेमी उतना ही

वहमी पति था। मेरे वहमको बढ़ानेवाली यह मित्रता थी, क्योंकि मित्रकी सचाई पर मुझे अविश्वास था ही नहीं। इस मित्रकी बात मानकर मैंने अपनी धर्मपत्नीको बहुत दुःख पहुंचाया है। इस हिसाके लिए मैं अपनेको कभी माफ नहीं कर सका हूं। इस वहमका पूरा-पूरा नाश तो तभी हुआ जब मुझे अहिंसाका सूक्ष्म ज्ञान हुआ; अर्थात् जब मैं ब्रह्मचर्यकी महिमा समझा और यह समझा कि पत्नी पतिकी दासी नहीं, बल्कि उसकी सहचारिणी है।

६. चोरी

इन दो अनुभवोंसे पहले अपने एक रिश्तेदारके साथ मुझे बीड़ी पीनेका शौक हो गया था। मेरे काकाजीको बीड़ी पीनेकी आदत थी। अतएव उन्हें और दूसरोंको धुआं निकालते देखकर हमें भी बीड़ी फूंकनेकी इच्छा हो आई। गांठमें पैसे थे नहीं, इसलिए काकाजी बीड़ीके जो ठूंठ फेंक दिया करते थे, हमने उन्हें चुराना शुरू किया।

लेकिन ठूंठ भी हर समय मिल नहीं सकते थे। इसलिए नौकरकी जेबमें जो दो-चार पैसे होते, उनमें से बीच-बीचमें एकाध चुरा लेनेकी आदत डाली और हम बीड़ी खरीदने लगे। किन्तु हमें सन्तोष न हुआ। अपनी पराधीनता हमें खलने लगी। इस बातका दुःख रहने लगा कि बड़ोंकी आज्ञाके बिना कुछ हो ही नहीं सकता। हम उकता उठे और हमने आत्महत्या करनेका निश्चय किया।

हम दोनों जंगलमें गये और धतूरेके बीज ढूंढ़ लाये। शामका समय खोजा। केदारनाथजीके मंदिरकी दीपमालिकामें घी चढ़ाया, दर्शन किये और एकान्त ढूंढ़ा। लेकिन जहर खानेकी हिम्मत न पड़ी। अगर फौरन ही मौत न आयी तो? मरनेसे लाभ ही क्या? पराधीनताको ही क्यों न सहन किया जाये? फिर भी दो-चार बीज खाये। अधिक खानेकी हिम्मत ही न हुई। दोनों मौतसे डरे और तय किया कि रामजीके मंदिरमें जाकर और दर्शन करके शांत हो जाना तथा आत्महत्याकी बातको भूल जाना है।

आत्महत्याके इस विचारका एक परिणाम यह हुआ कि हम दोनों जूठी बीड़ी चुराकर पीनेकी और साथ ही नौकरके पैसे चुराकर बीड़ी खरीदने और फूंकनेकी आदत भूल गये। बड़ेपनमें मुझे बीड़ी पीनेकी कभी इच्छा नहीं हुई, और मैंने सदा ही यह माना है कि यह आदत जंगली, गन्दी और हानिकारक है।

जिस समय बीड़ीका दोष हुआ, उस समय मेरी उमर कोई बारह-तेरह सालकी रही होगी; शायद इससे भी कम।

लेकिन इससे भी अधिक गंभीर चोरीका एक दूसरा दोष मेरे हाथों हुआ। उस समय मेरी उमर पंद्रह सालकी रही होगी। मुझसे बड़े भाईने कोई पच्चीस रुपयेका कर्ज बढ़ा लिया था। हम दोनों भाई उसे चुकानेके बारेमें सोचा करते थे। मेरे भाईके हाथमें सोनेका एक ठोस कड़ा था। उसमें से एक तोला सोना काटना कठिन न था।

कड़ा कटा। कर्ज अदा हुआ। लेकिन मेरे लिए यह बात असह्य हो गई। आगे कभी चोरी न करनेका मैंने दृढ़ निश्चय किया। मुझे लगा कि पिताजीके सामने यह सब स्वीकार कर लेना चाहिये। जीभ खुलती न थी। इस बातका भय तो था ही नहीं कि पिताजी खुद मुझे मारेंगे। उन्होंने कभी हममें से किसी भाईको मारा न था। लेकिन वे स्वयं दुःखी होंगे और शायद सिर पीट लेंगे तो? मुझे लगा कि इस जोखिमको उठाकर भी दोष कबूल करना ही चाहिये, इसके बिना शुद्धि न होगी।

आखिर मैंने चिट्ठी लिखकर दोष कबूल करने और माफी मांगनेका निश्चय किया। मैंने चिट्ठी लिखी और हाथोंहाथ दी। चिट्ठीमें सारा दोष कबूल किया और सजा चाही। बहुत अनुनय-विनयके साथ लिखा कि स्वयं अपने ऊपर दुःख न ओढ़ें और प्रतिज्ञा की कि भविष्यमें फिर कभी ऐसा दोष न होगा।

मैंने कांपते हाथों पिताजीके हाथमें यह चिट्ठी रखी। मैं उनकी खटियाके सामने बैठ गया। उस समय उन्हें भगंदरका कष्ट था। इस कारण वे खटिया पर लेटे थे। उन्होंने चिट्ठी पढ़ी। आंखोंसे मोतीकी बूंदें टपकीं। चिट्ठी भीग गई। उन्होंने क्षणभरके लिए आंखें मूंदीं, चिट्ठी फाड़ डाली और खुद पढ़नेके लिए जो उठ बैठे थे, सो फिर लेट गये।

मैं भी रोया; पिताजीके दुःखको समझ सका। मोतीकी उन बूंदोंके प्रेमबाणने मुझे बींधा, मैं शुद्ध बना।

मेरे लिए यह अहिंसाका पदार्थ-पाठ था। उस समय तो मैंने इसमें पिताजीके प्रेमके अतिरिक्त और कुछ नहीं देखा, लेकिन आज मैं इसे शुद्ध अहिंसाके नामसे पहचान सकता हूं।

इस प्रकारकी शांत क्षमा पिताजीके स्वभावके प्रतिकूल थी। मैंने सोचा था कि वे क्रोध करेंगे, कटु वचन कहेंगे और कदाचित् अपना सिर पीट लेंगे। किन्तु उन्होंने जिस अपार शांतिका परिचय दिया, उसका कारण शुद्ध भावसे दोषकी स्वीकृति ही थी। मेरी स्वीकृतिसे पिताजी मेरे बारेमें निर्भय बने और उनका महान प्रेम वृद्धिगत हुआ।

७. पिताजीकी मृत्यु

मेरी उमरके १६ वें वर्षमें पिताजीका अवसान हुआ। वे लम्बे समय तक रोगशय्या पर रहे। इस बीच मैंने उनकी खूब सेवा की। मेरा काम नर्सका था। खाने-पीनेसे जो समय बचता था, उसे मैं स्कूलमें अथवा पिताजीकी सेवामें ही बिताता था। जब उनकी आज्ञा मिलती और उनकी तबीयतको आराम होता, तब शामको घूमने जाता था। रात हमेशा उनके पैर दबाता और वे इजाजत देते तब अथवा उनके सो जाने पर मैं सोने जाता था। मुझे यह सेवा अतिशय प्रिय थी। मैं विद्यालयकी पढ़ाई करनेके धर्मको समझता था और उससे भी अधिक माता-पिताकी भक्तिके धर्मको समझता था। फिर भी विषय-वासना मुझ पर सवारी कस सकती थी। पिताजीके पैर तो मैं दबाता था, लेकिन मन शयन-गृहकी ओर दौड़ा करता था; और जब मुझे सेवासे छुट्टी मिलती थी, तो मैं खुश होता था।

अंतिम रात्रिको मैं बड़ी देर तक उनके पैर दबाता रहा। काकाजीने सो जानेको कहा। किसीको यह खयाल तो था ही नहीं कि यह रात आखिरी रात होगी। मैं सीधा शयन-गृहमें पहुंचा। स्त्री तो बेचारी गहरी नींदमें थी। मैंने उसे जगाया। पांच-सात मिनट ही बीते होंगे कि इतनेमें मुझे पिताजीके गुजर जानेकी खबर मिली। मैं शरमाया, बहुत दुःखी हुआ और समझा कि यदि मैं विषयान्ध न होता, तो अंतिम घड़ीमें इस तरहका बिछोह न हुआ होता और मैं अंतिम क्षण तक पिताजीके पैर दबाता रहता। इस काले दागको मैं आज तक भूल नहीं सका हूं। माता-पिताके प्रति मेरी भक्तिकी कोई सीमा नहीं थी। उसके लिए मैं सब कुछ छोड़ सकता था। लेकिन उनकी सेवाके समय भी मेरा मन विषयको छोड़ नहीं सकता था, यह उस सेवामें रही हुई अक्षम्य न्यूनता थी। इसी कारण मैंने अपनेको एकपत्नी-व्रतका पालनेवाला मानते हुए भी विषयान्ध माना है। इससे छूटनेमें मुझे बहुत समय लगा और छूटनेसे पहले अनेक धर्म-संकटोंका सामना करना पड़ा।

८. धर्मकी झांकी

छः या सात वर्षसे लेकर सोलह वर्षकी उमर तक मेरी जो पढ़ाई हुई, उसमें मैंने स्कूलमें धर्मकी शिक्षा कहीं भी प्राप्त न की। तिस पर भी वातावरणमें से कुछ न कुछ मिलता ही रहा। यहां धर्मका उदार अर्थ करना चाहिये —— धर्म अर्थात् आत्मबोध, आत्मज्ञान।

मेरा जन्म वैष्णव सम्प्रदायमें हुआ था, इसलिए समय-समय पर 'हवेली' में जाना होता रहता था। लेकिन उसके प्रति श्रद्धा उत्पन्न न हुई।

मुझे हवेलीका वैभव अच्छा न लगा। मैं हवेलीमें चलनेवाली अनीतिकी बातें सुनता रहता था। उसके कारण उसके प्रति मन उदास हो गया था। वहांसे मुझे कुछ भी न मिला।

लेकिन जो चीज हवेलीसे न मिली, वह मुझे अपनी दाई रंभासे मिली। मैं भूत-प्रेत आदिसे डरा करता था। रंभाने मुझे समझाया कि इसकी औषधि रामनाम है। भूत-प्रेतके भयसे बचनेके लिए मैंने बचपनमें रामनामका जप शुरू किया। यह अधिक समय तक नहीं टिका। लेकिन बचपनमें जो बीज बोया गया था, वह नष्ट नहीं हुआ। आज रामनाम मेरे लिए अमोघ शक्ति है।

इन्हीं दिनों मेरे काकाजीके एक लड़केने मुझे रामरक्षाका पाठ सिखानेका प्रबंध किया और मैंने सवेरे स्नानके बाद उसे हमेशा पढ़ जानेका नियम रखा। जब तक पोरबन्दरमें रहा तब तक तो यह नियम निभा। राजकोटके वातावरणमें यह टिक न सका। वैसे, इस क्रियाके विषयमें मुझे कोई खास श्रद्धा नहीं थी।

लेकिन जिस चीजने मेरे मनमें गहरी छाप डाली, वह थी रामायणका पारायण। पिताजीकी बीमारीका कुछ समय पोरबन्दरमें बीता था। वहां वे रोज रातको रामजीके मन्दिरमें रामायण सुना करते थे। सुनानेवाले रामचन्द्रजीके एक परम भक्त लाधा महाराज थे। वे दोहा-चौपाई गाते और अर्थ समझाते। स्वयं उसके रसमें लीन हो जाते और श्रोताजनोंको भी लीन कर देते। उन दिनों मेरी उमर तो तेरह सालकी रही होगी, किन्तु मुझे उनके पाठमें खूब रस आता था। यह रामायण-श्रवण रामायण विषयक मेरे अत्यन्त प्रेमकी नींव है। आज मैं तुलसीदासकी रामायणको भक्ति-मार्गका सर्वोत्तम ग्रन्थ मानता हूं।

कुछ महीनों बाद हम राजकोट आये। वहां इस प्रकारके पाठकी व्यवस्था न थी। हां, एकादशीके दिन भागवत पढ़ी जाती थी। मैं उसमें कभी-कभी जा बैठता था। लेकिन भट्टजी रस उत्पन्न नहीं कर पाये। आज मैं यह देख सकता हूं कि भागवत ऐसा ग्रन्थ है, जिसे पढ़कर धर्मरस उत्पन्न किया जा सकता है। मैंने तो उसे गुजरातीमें अतिशय रसपूर्वक पढ़ा है।

राजकोटमें अनायास ही मुझे सब सम्प्रदायोंके प्रति समान भाव रखनेकी तालीम मिली। वहां मैं हिन्दू धर्मके प्रत्येक सम्प्रदायके प्रति आदरभाव रखना सीखा; क्योंकि माता-पिता हवेलीमें जाते, शिवालयमें जाते और राम-मंदिरमें भी जाते तथा साथमें हम भाइयोंको ले जाते अथवा भेजा करते थे।

इसके साथ ही पिताजीके पास जैन धर्माचार्योंमें से कोई न कोई हमेशा आते रहते थे। वे पिताजीके साथ धर्मकी और व्यवहारकी बात करते थे। इसके अलावा, पिताजीके मुसलमान और पारसी मित्र थे। वे अपने-अपने धर्मकी बातें करते और पिताजी उनकी बातोंको सम्मानपूर्वक और प्रायः

रसपूर्वक सुना करते। चूंकि मैं पिताजीकी परिचर्यामें रहता था, इसलिए ऐसे वार्तालापोंके समय प्राय: वहीं उपस्थित रहता था। इस सारे वातावरणका मुझ पर यह प्रभाव पड़ा कि मुझमें सब धर्मोंके प्रति समान भाव पैदा हो गया।

इस प्रकार यद्यपि दूसरे धर्मोंके प्रति मनमें समभाव उत्पन्न हो गया था, तो भी यह नहीं कहा जा सकता कि मुझमें ईश्वरके प्रति आस्था थी। इन्हीं दिनों मेरे पिताजीके पुस्तक-संग्रहमेंसे मुझे मनुस्मृतिका भाषांतर देखनेको मिला। उसमें संसारकी उत्पत्ति आदिके विषयमें अनेक बातें पढ़ीं। उन पर मेरी श्रद्धा नहीं जमी। उलटे, कुछ नास्तिकता पैदा हुई। मैंने अपने दूसरे काकाजीके लड़केके सामने अपनी शंकायें रखीं। किन्तु वे मेरा समाधान न कर सके। मनुस्मृतिके खाद्याखाद्य प्रकरणमें और दूसरे प्रकरणोंमें भी मैंने प्रचलित प्रथाका विरोध पाया। और, उन दिनों मनुस्मृति पढ़कर मैं अहिंसा तो बिलकुल न सीखा।

लेकिन एक बातने मनमें जड़ जमा ली — यह संसार नीति पर टिका हुआ है। नीतिमात्रका समावेश सत्यमें है। सत्यकी शोध तो करनी ही होगी। यों दिनोंदिन सत्यकी महिमा मेरी दृष्टिमें बढ़ती गई, सत्यकी व्याख्या विस्तृत होती गई और अभी भी होती ही रहती है।

साथ ही, नीतिका एक छप्पय भी हृदयमें बस गया। अपकारका बदला अपकार नहीं, उपकार ही हो सकता है, यह वस्तु जीवनका सूत्र बन गई। उसने मुझ पर साम्राज्य चलाना शुरू किया। अपकारीका भला चाहना और करना मेरे अनुरागका विषय बन गया। मैंने उसके अनगिनत प्रयोग किये। वह चमत्कारी छप्पय यों है:

पाणी आपने पाय, भलुं भोजन तो दीजे;
आवी नमावे शीश, दंडवत कोडे कीजे.
आपण घासे दाम, काम महोरोनु करीए;
आप उगारे प्राण, ते तणा दु:खमां मरीए.
गुण केडे तो गुण दश गणो, मन, वाचा, कर्मे करी;
अवगुण केडे जे गुण करे, ते जगमां जीत्यो सही.

(अर्थ — जो हमें पानी पिलावे, उसे हम भोजन करावें। जो हमारे सामने शीश झुकावे, उसे हम उमंगसे दण्डवत् प्रणाम करें। जो हमारे लिए एक पैसा भी खर्च करे, उसके लिए हम गिन्नियोंका काम कर दें। जो हमारे प्राण बचाये, उसके दु:खको दूर करनेमें हम अपने प्राण तक न्यौछावर कर दें। उपकार करनेवालेके प्रति तो मन, वाणी और कर्मसे दस गुना उपकार करना ही चाहिये। लेकिन जगमें सच्चा और सार्थक जीना उसीका है, जो अपकार करनेवालेके प्रति भी उपकार करता है।)

९. विलायतकी तैयारी

सन् १८८७में मैंने मैट्रिक्युलेशनकी परीक्षा पास की। घरके बड़ोंकी इच्छा थी कि पास होने पर मैं कॉलेजमें भरती होऊं और आगे पढ़ूं। भावनगरका खर्च कम था, इसलिए भावनगरके शामलदास कॉलेजमें जानेका निश्चय हुआ। वहां मुझे कुछ आता न था, सब कठिन मालूम होता था; अध्यापकोंके व्याख्यानोंमें न तो रस आता था, न कुछ समझ ही पड़ता था। पहली टर्म (सत्र) पूरी करके मैं घर आया।

मावजी दवे परिवारके पुराने मित्र और सलाहकार तथा विद्वान और व्यवहार-कुशल ब्राह्मण थे। इन छुट्टियोंके दिनोंमें वे घर आये। माताजी और बड़े भाईके साथ बातचीत करते हुए उन्होंने मेरी पढ़ाईके बारेमें पूछताछ की और आग्रहपूर्वक सलाह दी कि अगर कबा गांधीकी गादी संभालनी है, तो आपको इसे बैरिस्टर बननेके लिए विलायत भेजना चाहिये। मुझे जो भाता था वही वैद्यने बता दिया। बड़े भाई सोचमें पड़ गये -- पैसेका क्या होगा? और मेरे जैसे नवयुवकको इतनी दूर कैसे भेजा जाय? माताजीको कुछ सूझ न पड़ा। उन्होंने काकाजीकी सलाह लेनेको कहा।

पोरबन्दरके एडमिनिस्ट्रेटर गांधी-परिवारके लिए अच्छी राय रखते थे। बड़े भाईने सोचा, उनके मारफत राज्यकी ओरसे थोड़ी-बहुत मदद मिल सके तो ली जाय। मुझे उनका यह विचार अच्छा लगा। मैं डरपोक था, लेकिन इस बार मेरा डर भाग गया। मैं पोरबन्दर जानेको तैयार हुआ। काकाजीने कहा -- "मैं तुझे विलायत जानेकी -- समुद्र लांघनेकी -- इजाजत क्यों कर दूं? लेकिन मैं बाधक नहीं बनूंगा। सच्ची इजाजत तो तेरी मांकी है। यदि वह तुझे इजाजत दे, तो तू बेखटके जाना। यह कहना कि मैं तुझे रोकूंगा नहीं। मेरे आशीर्वाद तो तुझे हैं ही।"

फिर मैं एडमिनिस्ट्रेटरसे मिला। उसने थोड़ेमें बात निबटा दी -- "तू बी० ए० हो जा, बादमें मुझसे मिलना। अभी कोई मदद नहीं दी जायगी।"

मैं राजकोट लौटा। जोशीजीने (दवेने) सलाह दी कि कर्ज लेकर भी मुझे विलायत भेजा जाय। मैंने सुझाया कि मेरी स्त्रीके हिस्सेके जेवर बेच डाले जायं। उनसे दो-तीन हजार रुपयोंसे अधिक रकम मिलनेवाली न थी। भाईने बीड़ा उठाया कि वे, जैसे भी बनेगा, रुपयोंका प्रबंध करेंगे।

माताने सब तरहकी पूछताछ शुरू की। किसीने कहा -- नौजवान विलायत जाकर बिगड़ जाते हैं; किसीने कहा -- वे वहां मांसाहार करने

लगते हैं; कोई बोला — वहां बिना शराबके काम ही नहीं चलता। माताने ये सारी बातें मुझसे कहीं। मैंने कहा — "लेकिन क्या तुम मुझ पर विश्वास न करोगी? मैं तुम्हें धोखा न दूंगा। शपथ खाकर कहता हूं कि मैं इन चीजोंसे बचूंगा।"

माता बोली — "मैं तुझ पर विश्वास करती हूं। लेकिन दूर देशमें क्या हो? मेरी तो अक्ल काम नहीं करती। मैं बेचरजी स्वामीसे पूछूंगी।" वे भी परिवारके सलाहकार थे। उन्होंने मदद की; मुझसे तीन प्रतिज्ञायें लिवाईं और मैंने मांस, मदिरा तथा स्त्री-सेवनसे दूर रहनेकी प्रतिज्ञा ली। माताने आज्ञा दे दी।

गुरुजनोंके आशीर्वाद लेकर मैं विलायत जानेके लिए बड़े भाईके साथ बम्बई पहुंचा। भाईने मित्रोंसे सुना कि चौमासेमें समुद्र तूफानी हो जाता है। उन्होंने इसका खतरा उठाकर तुरंत भेजनेसे इनकार किया। मैं अनुकूल समयकी राह देखता बम्बईमें रुक गया; भाई राजकोट लौट गये।

इस बीच जातिमे खलबली मची। जाति बुलाई गई। मुझे जातिकी 'वाड़ी' में हाजिर रहनेका फरमान मिला। मैं वहां गया। मुझम एकाएक हिम्मत आ गई। हाजिर रहनेमें न संकोच हुआ, न डर लगा। जातिके सेठ और मेरे बीच सवाल-जवाब हुए। मैंने कहा — "विलायत जानेका अपना निश्चय मैं बदल नहीं सकता। मेरे पिताजीके मित्र और सलाहकार, जो विद्वान ब्राह्मण हैं, मानते हैं कि मेरे विलायत जानेमें कोई दोष नहीं है। मुझे अपनी माताजी और भाईकी आज्ञा भी मिल चुकी है।"

सेठने कहा — "लेकिन क्या तू जातिका हुक्म नहीं मानेगा?"

मैंने जवाब दिया — "मैं लाचार हूं। मुझे लगता है कि इसमें जातिको बीचमें न पड़ना चाहिये।"

इस उत्तरसे सेठको रोष हो आया। उन्होंने मुझे दो-चार सुना दी। मैं शान्त भावसे बैठा रहा। सेठने हुक्म दिया — "इस लड़केको आजसे जाति-बाहर माना जायगा।"

मुझ पर इस ठहरावका कोई असर न हुआ; बड़े भाई भी दृढ़ रहे। और सन् १८८८के सितम्बर महीनेकी ४ तारीखको मैंने बम्बईका बन्दरगाह छोड़ा।

२ : विलायतमें

१०. शुरूके महीने

स्टीमरमें ही मेरी कसौटी शुरू हो गई। अंग्रेजीमें बात करनेकी मुझे आदत ही न थी। मुसाफिर अंग्रेज थे। उनके साथ बातचीत करना आता न था। कांटे-चम्मचसे खाना मैं जानता न था; और यह पूछनेकी हिम्मत न होती थी कि कौनसी चीज विना मांसकी बनती है। इसलिए मैं खानेकी मेज पर तो कभी गया ही नहीं। अपने साथ जो मिठाई वगैरा लेकर चला था, मुख्यत: उसीसे काम चलाया। अपनी भीरुता मैं छोड़ न सका।

एक अंग्रेजने मुझसे बातचीत करना शुरू किया। मांस न खानेके मेरे आग्रहकी बात सुनकर वे हंसे और बोले कि इंग्लैंडमें तो इतनी सरदी पड़ती है कि मांसके बिना चल ही नहीं सकता।

किन्तु मैंने कहा -- "मैं अपनी माताजीके साथ वचनसे बंध गया हूं, इसलिए मैं मांस ले नहीं सकता। अगर मांसके बिना चलता ही न होगा, तो मैं वापस हिन्दुस्तान चला जाऊंगा, लेकिन मांस तो हरगिज न खाऊंगा।"

सुख-दु:खके साथ यात्रा पूरी करके मैं साउदेम्प्टन बन्दरगाह पर सफेद फलालैनका कोट-पतलून पहने उतरा और एक होटलमें गया। डॉक्टर प्राणजीवन मेहता वहां मुझसे मिलने आये। उन्होंने प्रेमभरा विनोद किया और यूरोपके रीति-रिवाजोंकी अनेकानेक बातें मुझे समझाईं।

होटल महंगा था। मैं एक-दो दिन वहां रहा और फिर एक कोठरी मिलने पर उसमें जा बसा। मैं बहुत परेशान हो उठा। देशकी बहुत याद आने लगी। मांका प्रेम मूर्तिमंत होने लगा। रात पड़ती और मैं रोना शुरू कर देता। अजीब लोग थे, अजीब रहन-सहन थी, घर भी अजीब थे। खाने-पीनेका परहेज तो था ही और खाने योग्य पदार्थ रूखे और रसहीन लगते थे। मेरी हालत सरोतेके बीच सुपारी-जैसी हो गई। विलायतमें अच्छा लगता नहीं था और वापस देश जाना जंचता नहीं था। आग्रह यही था कि जब विलायत पहुंच गया हूं, तो तीन साल पूरे कर ही लूं।

डॉक्टर मेहता मेरी कोठरीमें मुझसे मिलने आये। उन्हें वह जगह पसन्द न पड़ी। उन्होंने मुझे एक मित्रके घरमें ठहराया। मित्रने अंग्रेजी रीति-रिवाज सिखाये और अंग्रेजीमें कुछ बात करनेकी आदत भी उन्होंने डाली।

मेरे भोजनका प्रश्न बहुत बड़ा प्रश्न बन गया। बिना नमक और मसालेकी साग-तरकारी रुचती न थी। सुबह तो ओटमीलका दलिया बनता था, अतः उससे पेट थोड़ा भर जाता था। पर दोपहर और शामको मैं सदा भूखा रहता था। मित्र मुझे रोज मांसाहारके लिए समझाते। मैं प्रतिज्ञाका सहारा लेकर चुप हो जाता। एक दिन मित्र बहुत खीझे और बोले—"निरक्षर मांके सामने यहांकी परिस्थिति जाने बिना की गई प्रतिज्ञाका मूल्य ही क्या है? ऐसी प्रतिज्ञा, प्रतिज्ञा ही नहीं।"

लेकिन मैं टससे मस न हुआ।

मित्र रोज दलील करते। लेकिन मेरे पास तो छत्तीस रोगोंको मिटानेवाला एक ही नन्ना था। मित्र जितना ही मुझे समझाते, मेरी दृढ़ता उतनी ही बढ़ती। मैं रोज ईश्वरसे रक्षाकी याचना करता और मुझे रक्षा मिलती। मैं जानता न था कि ईश्वर कौन है। लेकिन रम्भा द्वारा दी गई श्रद्धा अपना काम कर रही थी।

एक दिन मित्रने मेरे सामने बेंथमका ग्रंथ पढ़ना शुरू किया। उन्होंने उसका विवेचन किया। मैंने उत्तर दिया—"मैं ऐसी सूक्ष्म बातें नहीं समझता। मैं कबूल करता हूं कि मांस खाना चाहिये। लेकिन अपनी प्रतिज्ञाके बन्धनको मैं तोड़ नहीं सकता। इसके बारेमें मैं कोई दलील नहीं कर सकता। मैं आपके प्रेमको समझता हूं। आपका हेतु समझता हूं। लेकिन लाचार हूं। मेरी प्रतिज्ञा टूट नहीं सकती।"

इसके बाद मित्रने दलील करना छोड़ दिया।

मैं मित्रके घर एक महीना रहा। डॉक्टर मेहताने अब मुझे एक परिवारमें रख दिया।

यहां मुझे मांसाहारकी चर्चामें नहीं पड़ना पड़ा। लेकिन खानेको जो मिलता, सो सब फीका लगता। मैं शरमाता और भूखा रहता। अभी मेरी पढ़ाई शुरू न हुई थी। मैं मुश्किलसे समाचार-पत्र पढ़ने लगा था। हिन्दुस्तानमें तो मैंने कभी समाचार-पत्र पढ़े ही नहीं थे।

मैंने भ्रमण शुरू किया। मुझे निरामिष अन्नाहार देनेवाला भोजन-गृह खोजना था। मैं रोज दस-बारह मील चलता। इस तरह भटकते हुए एक दिन मैं फेरिंग्डन स्ट्रीट पहुंचा और वहां 'वेजिटेरियन रेस्टोरां' का नाम पढ़ा। जो आनन्द बालकको मनपसन्द चीजके मिलनेसे होता है वही मुझे हुआ। अन्दर दाखिल होनेसे पहले ही मैंने कांचकी खिड़कीमें सॉल्टकी 'अन्नाहारकी हिमायत' नामक पुस्तक देखी। एक शिलिंग देकर पुस्तक खरीदी और खाने बैठा। विलायत आनेके बाद उस दिन पहली बार भर-पेट खानेको मिला। ईश्वरने मेरी भूख बुझायी। मैंने सॉल्टकी पुस्तक पढ़ी।

मुझ पर उसकी अच्छी छाप पड़ी। जिस दिन मैंने यह पुस्तक पढ़ी, उस दिनसे मैं स्वेच्छापूर्वक अर्थात् विचारपूर्वक अन्नाहारमें मानने लगा। माताके सामने की गई प्रतिज्ञा अब मुझे विशेष आनन्द देनेवाली बनी; और स्वयं अन्नाहारी रहकर दूसरोंको वैसा बनानेका लोभ जागा।

११ 'सभ्य' पोशाकमें

अन्नाहार पर मेरी श्रद्धा दिन-दिन बढ़ने लगी। सॉल्टकी पुस्तकने आहारके विषयमें अधिक पढ़नेकी मेरी जिज्ञासाको तीव्र बनाया। जितनी पुस्तकें मुझे मिलीं, मैंने खरीद लीं और पढ़ डालीं। इस वाचनका परिणाम यह हुआ कि मेरे जीवनमें आहारके प्रयोगोंको महत्त्वका स्थान मिल गया।

इस बीच मेरे बारेमें उन मित्रकी चिन्ता मिटी नहीं थी। उन्होंने प्रेमवश यह माना कि अगर मैंने मांसाहार न किया, तो मैं कमजोर हो जाऊंगा; यही नहीं बल्कि मैं 'बुद्धू' भी बनूंगा। उन्होंने मुझे सुधारनेका एक अन्तिम प्रयत्न किया — मुझे नाटक दिखाने ले जानेका न्योता दिया। नाटकमें जानेसे पहले मुझे उनके साथ भोजन-गृहमें भोजन करना था। शुरूमें ही 'सूप' आया। मैं परेशान हुआ। परोसनेवालेको पास बुलाया। मित्र समझ गये और चिढ़कर बोले: "अगर तुझे अब भी यही किच-किच करनी हो, तो जाकर किसी छोटे भोजन-गृहमें भोजन कर ले और बाहर मेरी राह देख।" इस प्रस्तावसे मुझे खुशी हुई। मैं उठा और मैंने दूसरे भोजनालय तलाशना शुरू किया। पास ही में एक अन्नाहार देनेवाला भोजनालय था, लेकिन वह बन्द हो चुका था। मैं भूखा रहा। हम नाटक देखने गये। मित्रने उस घटनाके बारेमें एक भी शब्द मुंहसे न निकाला।

हमारे बीच यह अन्तिम मित्र-युद्ध था। हमारा संबंध न तो टूटा और न कड़वा ही बना। मैं उनके समस्त प्रयासोंकी जड़में रहे हुए प्रेमको ताड़ सका था, इस कारण विचार और आचारकी भिन्नता रहते हुए भी उनके प्रति मेरा आदर बढ़ा।

लेकिन मुझे लगा कि मुझको उनका डर दूर करना चाहिये। मैंने निश्चय किया कि मैं जंगली नहीं रहूंगा, सभ्य पुरुषके लक्षण अपनेमें बढ़ाऊंगा और दूसरे प्रकारोंसे समाजमें मिलने-जुलने योग्य बनकर अन्नाहार विषयक अपनी विचित्रताको ढंक लूंगा।

मैंने 'सभ्यता' सीखनेके लिए अपनी हैसियतसे बाहरका और छिछला रास्ता अपनाया।

मैंने 'आर्मी एण्ड नेवी' स्टोरमें अपने कपड़े बनवाये। जहां शौकीन लोगोंके कपड़े सिलते थे, वहां १० पौंड पर बत्ती रखकर शामकी पोशाक सिलवाई। भोले और बादशाही दिलवाले बड़े भाईके मारफत खास सोनेकी एक चेन, जो दोनों जेबोंमें लटक सके, मंगवाई और वह मिल भी गई। टाई बांधनेकी कला हस्तगत की। बड़े आईनेके सामने खड़े रहकर ठीकसे टाई बांधनेमें और बालोंमें पट्टी डालकर मांग निकालनेमें हर रोज दस मिनटकी बरबादी तो होती ही थी। टोपी पहनते और उतारते समय हाथ मांग संभालनेके लिए सिर पर बरबस पहुंच ही जाते थे। साथ ही, जब समाजमें बैठे होते तब मांग पर हाथ रखकर बालोंको ठिकाने रखनेकी एक निराली और सभ्य क्रिया चलती ही रहती थी।

लेकिन इतनी टीमटाम ही काफी न थी। सभ्यताके दूसरे कुछ बाह्य गुण भी मैंने जान लिये थे और उनका मुझे विकास करना था। सभ्य पुरुषको नाचना आना चाहिये। उसे फ्रेंच भाषा ठीक-ठीक जाननी चाहिये। साथ ही, सभ्य पुरुषको लच्छेदार भाषण करना भी आना चाहिये। मैंने नाचना सीख लेनेका निश्चय किया। एक कक्षामें भरती हो गया। एक सत्रके कोई तीन पौंड जमा कर दिये। लगभग तीन हफ्तोंमें कोई छः पाठ लिये होंगे। पैर बराबर तालसे पड़ते न थे। सोचा, वायोलिन बजाना सीख लूं। इससे सुर और तालका अंदाज बैठ सकेगा। तीन पौंड वायोलिन खरीदनेमें स्वाहा किये और उसकी शिक्षा पर भी कुछ खर्च किया। भाषण करना सीखनेके लिए एक तीसरे शिक्षकका घर देखा। उसे भी एक गिनी तो देनी ही पड़ी। बेलकी 'स्टैण्डर्ड एलोक्यूशनिस्ट' नामक पुस्तक खरीदी।

इन बेलसाहबने मेरे कानमें घंटी बजाई; मैं जागा।

मुझे कहां इंग्लैंडमें सारी जिन्दगी बितानी है? मैं लच्छेदार भाषण करना सीख कर क्या करूंगा? नाचना सीखकर मैं सभ्य कैसे बनूंगा? वायोलिन तो देशमें भी सीखा जा सकता है। मैं तो विद्यार्थी हूं। मुझे विद्याध्ययन बढ़ाना चाहिये। मुझे अपने धंधेसे संबंध रखनेवाली तैयारी करनी चाहिये। अपने सद्व्यवहारसे सभ्य माना जाऊं तो ठीक है, अन्यथा मुझे यह लोभ छोड़ना चाहिये। मैंने इस आशयके उद्गारोंवाला एक पत्र अपने भाषण-शिक्षकके नाम भेज दिया। नाच-शिक्षिकाको भी ऐसा ही एक पत्र लिखा। वायोलिन-शिक्षिकाके घर वायोलिन लेकर पहुंचा। मैंने उसे अनुमति दी कि वह जितने भी दाम आयें उतने लेकर उसे बेच डाले।

'सभ्य' बननेकी यह सनक कोई तीन महीने रही होगी। पोशाककी टीमटाम वर्षों तक टिकी। लेकिन मैं विद्यार्थी बना।

१२. फेरफार

नाच आदिका मेरे प्रयोगोंका समय स्वैराचारका समय न था। उसमें कुछ समझदारी थी। अपनी मूर्च्छाके इस कालमें भी मैं अमुक हद तक सावधान था। पाई-पाईका हिसाब रखता था। खर्चका मुझे अंदाज था। मैंने यह निश्चय किया कि हर महीने १५ पौंडसे अधिक न खर्चूंगा। बसमें जानेके अथवा डाकके खर्चको भी मैं हमेशा लिख लिया करता था और सोनेसे पहले हमेशा जमा-खर्चका मेल बैठा लिया करता था। यह आदत अन्त तक बनी रही।

अब मैंने अपना खर्च आधा कर डालनेका विचार किया। अब तक मैं परिवारोंमें रहता था। इसके बदले मैंने यह तय किया कि अपना ही एक कमरा लेकर उसमें रहना ठीक होगा। साथ ही, यह भी तय किया कि कामके अनुसार तथा अनुभव प्राप्त करनेकी दृष्टिसे अलग-अलग मुहल्लोंमें घर बदलते रहना चाहिये। घर ऐसी जगहोंमें पसन्द किये कि जहांसे कामके स्थान तक आधे घंटेमें पैदल जाया जा सके और गाड़ीभाड़ा बचे। इसके कारण काम पर जाते समय ही टहलनेकी व्यवस्था हो गई। और इस व्यवस्थाकी बदौलत मैं हमेशा आठ-दस मील तो सहज ही घूम लेता था। मुख्यत: अपनी इस आदतके कारण मैं विलायतमें क्वचित् ही बीमार पड़ा हूंगा। शरीर भलीभांति कस गया। परिवारके साथ रहना छोड़कर मैंने दो कमरे किरायेसे ले लिये, एक सोनेके लिए और एक बैठनेके लिए।

इस तरह आधा खर्च बचा।

बैरिस्टरीकी परीक्षाके लिए बहुत पढ़ना जरूरी न था। मेरी कच्ची अंग्रेजी मुझे दु:ख देती थी। एक मित्रने कहा: "तू लंदनकी मैट्रिक्युलेशन परीक्षा पास कर ले। उसके लिए तुझे मेहनत करनी होगी, पर तेरा साधारण ज्ञान बढ़ जायगा। खर्चमें थोड़ी भी वृद्धि न होगी।" मैं यह जानकर चौंका कि लेटिन और दूसरी एक भाषा अनिवार्य है। मित्रने मुझे समझाया। मैंने लेटिन सीखनेका और ली हुई फ्रेंचको पूरा करनेका विचार किया। इस प्रकार सभ्य बनते-बनते मैं तो एक अत्यन्त उद्यमी विद्यार्थी बन गया। परीक्षामें बैठा। लेटिनमें नापास हुआ। मैं दु:खी तो हुआ, लेकिन हारा नहीं। लेटिनमें मुझे रस आने लगा था।

दुबारा परीक्षा देनेकी तैयारीके साथ ही रहन-सहनमें अधिक सादगी लानेके प्रयत्न शुरू किये। मुझे लगा कि अभी मेरे परिवारकी गरीबीसे मेल

खानेवाला सादा जीवन मेरा बना नहीं है। भाईकी तंगदस्ती और उनकी उदारताके विचारने मुझे आकुल-व्याकुल बना दिया। मैं देखता था कि लोग मुझसे अधिक सादगीके साथ रह लेते हैं। मैं ऐसे अनेकानेक गरीब विद्यार्थियोंके सम्पर्कमें आया था। सादी रहन-सहन पर लिखी गई पुस्तकें भी मैंने पढ़ी थीं। मैंने अपने दो कमरे उठा दिये। प्रति सप्ताह आठ शिलिंग पर एक कोठरी किरायेसे ली। एक अंगीठी खरीदी और सुबहका भोजन हाथसे बनाना शुरू करके उसे रोटीके साथ लेता था। इस प्रकार मैं रोज एक शिलिंगसे लेकर सवा शिलिंगके अंदर अपने भोजनकी व्यवस्था करना सीखा। मेरा यह समय अधिकसे अधिक पढ़ाईका समय था। जीवनमें सादगी आ जानेसे समय अधिक बचा। मैं दूसरी बार परीक्षामें बैठा और पास हुआ।

लेकिन सादगीके कारण मेरा जीवन रसहीन न बना। उलटे, इन फेर-फारोंकी वजहसे मेरी अंदरकी और बाहरकी स्थितिमें एकता पैदा हुई; अपने परिवारकी स्थितिके साथ मेरी रहन-सहनका मेल बैठा; जीवन अधिक सारमय बना; मेरे आत्मानन्दका पार न रहा।

१३. आहारके प्रयोग

जैसे-जैसे मैं जीवनमें गहरा पैठता गया, वैसे-वैसे बाहरके और अन्तरके आचारमें फेरफार करनेकी जरूरत मालूम होती गई। जिस गतिसे रहन-सहन और खर्चमें फेरफार हुए, उसी गतिसे अथवा उससे भी अधिक वेगसे मैंने अपने आहारमें फेरफार करना शुरू किया। अन्नाहार पर लिखी गई अंग्रेजी पुस्तकोंमें लेखकोंने बहुत सूक्ष्म विचार किया था। उन्होंने उसमें अन्नाहारकी छानबीन धार्मिक, वैज्ञानिक, व्यावहारिक और वैद्यक दृष्टिसे की थी। मुझ पर इन चारों दृष्टियोंका असर पड़ा और अन्नाहार देनेवाले भोजनालयोंमें मैं इन चार प्रकारकी दृष्टियोंवाले लोगोंके साथ मिलने-जुलने लगा। विलायतमें इस विषयसे सम्बन्ध रखनेवाला एक मंडल था और उसका अपना एक साप्ताहिक पत्र भी था। मैं साप्ताहिकका ग्राहक और मण्डलका सदस्य बना। कुछ ही समयमें मुझे उसकी कमेटीमें स्थान दिया गया। वहां मेरा परिचय ऐसे लोगोंसे हुआ, जो अन्नाहारियोंमें स्तंभरूप माने जाते थे। मैं प्रयोगोंमें उलझ गया।

घरसे जो मिठाई और मसाले वगैरा मंगाये थे, उनका उपयोग मैंने बन्द किया और मेरे मनने दूसरा रास्ता पकड़ा। मसालोंका शौक मन्द

पड़ गया और जो भाजी रिचमण्डमें विना मसालेकी होनेके कारण फीकी लगती थी, वह अब केवल उबाली हुई स्वादिष्ट लगने लगी। ऐसे अनेक अनुभवोंने मुझे सिखाया कि स्वादका सच्चा स्थान जीभ नहीं बल्कि मन है।

उन दिनों एक पंथ ऐसा भी था, जो चाय-कॉफीको हानिकारक मानता था और कोकोका समर्थन करता था। अब तक मैं यह समझ चुका था कि केवल शरीर-व्यापारके लिए आवश्यक पदार्थ ही लेना उचित है, इसलिए मैंने चाय-कॉफीका मुख्यतः त्याग किया और उनकी जगह कोको लेने लगा।

भोजनालयोंमें दो विभाग थे। एकमें जितनी चीजें खाओ उतने पैसे देनेकी व्यवस्था थी। वहां एक वारके भोजन पर एक शिलिंगसे दो शिलिंग तक खर्च होता था। दूसरे विभागमें छः पेनीमें तीन पदार्थ और रोटीका एक टुकड़ा मिलता था। जिन दिनों मैंने वहुत किफायत शुरू की, उन दिनों मैं अक्सर इस छः पेनीवाले विभागमें हो जाता था।

इन प्रयोगोंके अन्तर्गत उप-प्रयोग तो बहुतेरे हुए। उनमें अण्डे खानेका भी एक प्रयोग हुआ। स्टार्च-रहित आहारका समर्थन करनेवालोंने अण्डोंकी बहुत स्तुति की थी और यह सिद्ध किया था कि अण्डे मांस नहीं हैं। यह तो निश्चित ही था कि अण्डोंके सेवनसे किसी प्राणधारी जीवको दुःख नहीं पहुंचता। इस दलीलके फेरमें पड़कर मैंने मांके साथ की गई प्रतिज्ञाके रहते हुए भी अण्डे खाये, लेकिन मेरी यह मूर्च्छा क्षणिक थी। प्रतिज्ञाका नया अर्थ करनेका अधिकार मुझे न था। अर्थ तो प्रतिज्ञा करानेवालेका ही माना जाना चाहिये। मांस न खानेकी प्रतिज्ञा करानेवाली माताको अण्डोंका तो खयाल तक न था। अतएव ज्यों ही मुझे प्रतिज्ञाके रहस्यका भान हुआ, मैंने अण्डे लेना छोड़ दिया और वह प्रयोग भी छोड़ दिया।

मैंने अण्डोंका त्याग किया। लेकिन मेरे लिए यह कठिन हो गया, क्योंकि बारीकीसे पूछताछ करने पर पता चला कि अन्नाहारके भोजनालयोंमें भी अण्डोंवाली अनेक चीजें बनती थीं। इस कारण परोसनेवालेसे पूछना जरूरी होता था। इस प्रकार एक ओर मैं एक जंजालसे छूटा, क्योंकि थोड़ी और बिलकुल सादी चीजें ही ले सकता था, तो दूसरी ओर थोड़ा आघात भी पहुंचा, क्योंकि जीभसे लगी हुई अनेक वस्तुओंका मुझे त्याग करना पड़ा। लेकिन यह आघात क्षणिक था। प्रतिज्ञा-पालनका स्वच्छ, सूक्ष्म और स्थायी स्वाद मुझे उस क्षणिक स्वादकी तुलनामें अधिक प्रिय मालूम हुआ।

१४. शरमीलापन

अन्नाहारी मंडलकी कार्यकारिणी समितिमें मैं चुन तो लिया गया, और मैं समितिकी हरएक बैठकमें हाजिर भी रहने लगा। लेकिन बोलनेके लिए जीभ खुलती ही न थी। लम्बे समय तक मेरी यही स्थिति रही। इस बीच समितिमें एक गम्भीर विषय निकला। उन दिनों वहां कृत्रिम उपायों द्वारा सन्तानोत्पत्तिको नियंत्रित करनेका आन्दोलन चल रहा था। डॉक्टर एलिन्सन समितिमें थे। वे इन उपायोंके हिमायती थे और मजदूरोंमें इनका प्रचार करते थे। मुझे ये विचार भयंकर मालूम हुए। लेकिन जब डॉक्टर एलिन्सनको समितिसे हटानेका प्रस्ताव सामने आया, तो मुझे उसमें शुद्ध अन्याय प्रतीत हुआ; क्योंकि मंडलका हेतु केवल अन्नाहारका प्रचार करना था, दूसरी नीतिका नहीं।

किन्तु समितिमें बोलनेकी हिम्मत मुझमें न थी। मैंने अपने विचारोंको लिखकर सभापतिके सामने रखनेका निश्चय किया। लिखे हुए विचारोंको पढ़ जानेकी भी मेरी हिम्मत न पड़ी। सभापतिने उसे दूसरे सदस्यसे पढ़वा लिया। डॉक्टर एलिन्सनका पक्ष हार गया। लेकिन मेरा अपना विश्वास था कि उनका पक्ष सच्चा है, इसलिए मुझे सम्पूर्ण सन्तोष रहा।

मेरा शरमीलापन विलायतमें अन्त तक बना रहा। किसीसे मिलने जाने पर भी जहां पांच-सात लोगोंका दल एकत्र हो जाता, वहां मैं गूंगा बनकर बैठा रहता।

एक बार मैं वेण्टनर गया था। वहां अन्नाहारको प्रोत्साहित करनेके लिए एक सभा हुई थी। मुझे इस सभामें बोलनेका निमंत्रण मिला। मैंने उसे स्वीकार कर लिया। मैंने अपना भाषण लिख डाला। बोलनेकी हिम्मत नहीं थी। जब मैं पढ़नेके लिए खड़ा हुआ, तो पढ़ न सका। दूसरेने पढ़ कर सुनाया।

विलायतमें रहते हुए सार्वजनिक रूपसे बोलनेका अन्तिम प्रयत्न मुझे विलायत छोड़ते समय करना पड़ा था। विलायत छोड़नेसे पहले मैंने अपने अन्नाहारी मित्रोंको हॉवर्न भोजनालयमें भोजनके लिए आमंत्रित किया था। यह सोचकर कि जिस भोजनालयमें मांसाहार होता है, उसमें अन्नाहारका प्रवेश हो तो अच्छा, मैंने इस भोजनालयके व्यवस्थापकके साथ विशेष प्रबंध करके वहां दावत दी। यह नया प्रयोग अन्नाहारियोंमें प्रसिद्ध हो गया। वहांकी प्रथाके अनुसार मुझे भाषण करना था। मैं बहुत सोचकर बोलनेकी तैयारीसे गया था। मैंने एक छोटा विनोदपूर्ण भाषण करनेका विचार किया था, लेकिन सोची हुई बात सब भूल गया और विनोद तथा रहस्यपूर्ण

भाषण करनेकी कोशिशमें मैं स्वयं ही विनोदका पात्र बन गया। आखिर मुझे यह कहकर बैठ जाना पड़ा—"सज्जनो, आपने मेरा आमंत्रण स्वीकार किया, इसके लिए मैं आपका आभारी हूं।"

कह सकते हैं कि मेरी यह शरम आखिर दक्षिण अफ्रीकामें छूटी। अपने इस शरमीले स्वभावके कारण मुझे अपनी फजीहतके अलावा दूसरा कोई नुकसान नहीं हुआ। इससे मुझे बड़ा लाभ यह हुआ कि मैं शब्दोंकी किफायत करना सीखा और मुझे अपने विचारों पर काबू पानेकी आदत सहजमें पड़ गई। फलत: आज मेरी जीभ या कलमसे बिना सोचे या बिना तौले क्वचित् ही कोई शब्द निकलता है। शरमीलापन मेरी ढाल था। उससे मुझे परिपक्व बननेका लाभ प्राप्त हुआ। उसके कारण मुझे सत्यकी अपनी पूजामें सहायता मिली।

१५. असत्यरूपी जहर

चालीस साल पहले विलायत जानेवालोंमें यह प्रथा चल पड़ी थी कि स्वयं विवाहित होने पर भी वे अपनेको कुंआरा बतायें। उस देशमें स्कूल या कॉलेजमें पढ़नेवाले कोई विवाहित नहीं होते। वहां विवाहितके लिए विद्यार्थी-जीवन नहीं होता। कहा जा सकता है कि विलायतमें बाल-विवाह नामकी चीज है ही नहीं। इसलिए हिन्दुस्तानके नौजवानोंको यह कबूल करते हुए शरम मालूम होती थी कि वे विवाहित हैं। मैं भी विवाहित होने और एक बेटेका बाप होनेके बावजूद अपनेको कुंआरा कहनेमें न डरा! पर इस तरह कुंआरा मनवानेका स्वाद मैंने कम ही चखा। मेरे शरमीले स्वभावने और मेरे मौनने मेरी बड़ी रक्षा की।

ब्राइटन समुद्र-तट पर स्थित हवा खानेका एक मुकाम है। एक बार मैं वहां गया। जिस होटलमें ठहरा था उसमें एक साधारण पैसेदार विधवा बुढ़िया भी हवा खानेके लिए आकर ठहरी थी। यह मेरे पहले वर्षका समय था। होटलमें खानेके पदार्थोंकी सूचीके सभी नाम फ्रेंच भाषामें थे। मैं उन्हें समझता नहीं था। उक्त महिलाने अन्नाहारकी चीजें मुझे बताईं। उस दिनसे हमारा जो संबंध कायम हुआ, सो मेरे विलायत रहने तक और उसके बाद भी बरसों तक बना रहा। उसने लन्दनका अपना पता मुझे दिया और मुझे हर रविवारको अपने यहां भोजनके लिए आनेको निमंत्रित किया। वह दूसरे अवसरों पर भी मुझे अपने यहां बुलाती, आगे होकर मेरी शरम छुड़ाती, नौजवान स्त्रियोंसे मेरा परिचय कराती और मुझे उनसे बातचीत करनेको ललचाती। एक स्त्री उसीके यहां रहती

थी। उसके साथ वह मेरी बहुत बातचीत करवाती। कभी-कभी हमें अकेला भी छोड़ देती।

पहले तो मुझे यह सब बहुत अटपटा और कठिन मालूम हुआ। कुछ सूझता न था कि क्या बातें की जायं। लेकिन बादमें मैं तैयार होने लगा। उस स्त्रीके साथ बातचीत करना मुझे अच्छा भी लगने लगा।

अब मैं क्या करूं? मैंने सोचा—'यदि मैंने इस भद्र महिलासे अपने विवाहकी बात कह दी होती, तो कितना अच्छा होता? क्या उस दशामें वह चाहती कि मैं किसी स्त्रीके साथ विवाह करूं? अब भी देर नहीं हुई है। यदि मैं सत्य कह दूंगा, तो अधिक संकटसे बच जाऊंगा।'

यह सोचकर मैंने उसे एक पत्र लिखा। उसमें अपने विचार इस प्रकार प्रकट किये:

"मैं आपके प्रेमके योग्य नहीं हूं। जब मैं आपके घर आने लगा था तभी मुझे आपसे यह कह देना चाहिये था कि मैं विवाहित हूं। आपसे यह बात छिपानेका मुझे अब बहुत दुःख होता है। किन्तु आज ईश्वरने मुझे सत्य कहनेकी हिम्मत दी है, इससे मुझे आनन्द हो रहा है। आप मुझे माफ करेंगी? जिन बहनके साथ आपने मेरा परिचय कराया है, उनके साथ मैंने किसी प्रकारकी अनुचित छूट नहीं ली है। मुझे इस बातका पूरा भान है कि मैं ऐसी छूट ले ही नहीं सकता। लेकिन स्वभावतः आपकी इच्छा तो यही देखनेकी हो सकती है कि किसीके साथ मेरा संबंध कायम हो जाय। आपके मनमें यह चीज और आगे न बढ़े, इस विचारसे भी मुझे आपके सामने सत्य प्रकट कर देना चाहिये।

"यदि इस पत्रके मिलने पर आप मुझे अपने यहां आनेके लिए नालायक मानेंगी, तो मुझे उसका जरा भी बुरा मालूम न होगा। यदि आप मेरा त्याग न करेंगी, तो उससे मुझे खुशी होगी।"

लगभग लौटती डाकसे मुझे उस विधवा मित्रका जवाब मिला। उसने लिखा था:

"आपका खुले दिलसे लिखा पत्र मिला। हम दोनों खुश हुईं और खूब हंसीं। लेकिन मेरा न्योता कायम है। अगले रविवारको हम आपकी राह अवश्य देखेंगी। हमारी मित्रता तो जैसी थी वैसी ही बनी रहेगी।"

इस प्रकार मुझमें असत्यका जो जहर घुस गया था, उसे मैंने बाहर निकाला; और फिर तो कहीं भी अपने विवाह आदिकी बातें करनेमें मैं झिझकता न था।

१६. धार्मिक परिचय

विलायतमें रहते हुए मेरा लगभग एक साल बीता होगा, इतनेमें दो थियोसॉफिस्ट मित्रोंसे मेरी पहचान हुई। उन्होंने मुझसे गीताजीकी बात की। वे एडविन आर्नल्डका गीताजीका अनुवाद पढ़ते थे। लेकिन उन्होंने तो मुझे अपने साथ संस्कृतमें गीता पढ़नेके लिए निमन्त्रित किया। मैं शरमिन्दा हुआ, क्योंकि मैंने गीता संस्कृत या प्राकृतमें पढ़ी ही नहीं थी। मैंने मित्रोंसे यह हकीकत कही और उनके साथ गीता पढ़ना शुरू किया।

'ध्यायतो विषयान् पुंसः' से शुरू होनेवाले दूसरे अध्यायके दो श्लोकोंका मेरे मन पर गहरा प्रभाव पड़ा। मुझे उस समय यह भास हुआ कि भगवद्‌गीता अमूल्य ग्रंथ है। धीरे-धीरे मेरी यह मान्यता बढ़ती गई और आज तत्त्वज्ञानके लिए मैं उसे सर्वोत्तम ग्रंथ मानता हूं। मेरी निराशाकी घड़ियोंमें इस ग्रंथने मेरी अमूल्य सहायता की है।

इन्हीं भाइयोंने मुझे आर्नल्डका 'बुद्ध-चरित' पढ़नेके लिए कहा। उसे मैंने भगवद्‌गीतासे भी अधिक रसपूर्वक पढ़ा।

उन्होंने मुझे मैडम ब्लैवेट्स्कीके और श्रीमती बेसेंटके दर्शन कराये। मुझे सोसायटीमें भरती होनेके लिए भी कहा। मैंने विनयपूर्वक इनकार किया और कहा -- "मेरा धर्मज्ञान नहींके बराबर है, इसलिए मैं किसी भी पंथमें सम्मिलित होना नहीं चाहता।" उनके कहनेसे मैंने मैडम ब्लैवेट्स्कीकी पुस्तक 'की टु थियोसॉफी' पढ़ी। उसे पढ़नेके बाद हिन्दू धर्मकी पुस्तकें पढ़नेकी इच्छा हुई और पादरियोंके मुंहसे सुनी हुई यह राय कि हिन्दू धर्म वहमोंसे ही भरा है, दिलसे निकल गई।

इन्हीं दिनों मुझे मैन्चेस्टरके एक भले खिस्ती मिले। उन्होंने मेरे साथ खिस्ती धर्मकी चर्चा चलाई। मुझे बाइबल पढ़नेकी सलाह दी और बाइबल खरीदकर ला दी। मैंने उसे शुरू किया, लेकिन मैं 'पुराना करार' पढ़ ही न सका।

जब मैं 'नये करार' पर आया, तो उसका मुझ पर अलग ही प्रभाव पड़ा। ईशुके गिरि-प्रवचनका प्रभाव बहुत अच्छा पड़ा। वह दिलमें बस गया। बुद्धिने उसकी तुलना गीताजीके साथ की। मुझे उसमें यह पढ़कर अपार आनन्द हुआ कि "जो तुझसे कुरता मांगे, उसे तू अंगरखा देना"; जो तेरे दाहिने गाल पर तमाचा मारे, तू उसके सामने बायां गाल करना।" मुझे शामल भट्टका छप्पय याद आ गया। मेरे बालमनने गीता, आर्नल्ड-कृत

'बुद्ध-चरित' और ईशुके वचनोंका एकीकरण किया। मेरे मनको यह बात जंच गई कि त्यागमें धर्म है।

इस वाचनसे दूसरे धर्माचार्योंकी जीवनी पढ़नेकी इच्छा हुई। किसी मित्रने मुझे कार्लाइलकी 'विभूतियां और विभूति-पूजा' नामक पुस्तक पढ़नेकी सलाह दी। उसमें से मैंने पैगम्बर-संबंधी भाग पढ़ा और मुझे उनकी महत्ता-का, वीरताका और तपश्चर्याका खयाल आया।

इसके बाद मैं परीक्षाकी पुस्तकोंके सिवाय अन्य कुछ पढ़नेकी फुरसत न पा सका। लेकिन मैंने मनमें यह गांठ बांध ली कि मुझे धर्मग्रंथ पढ़ने चाहिये और सब मुख्य धर्मोंका योग्य परिचय प्राप्त कर लेना चाहिये।

नास्तिकताके बारेमें भी कुछ जाने बिना काम कैसे चलता? मैंने ब्रेडलॉकी पुस्तक पढ़ी। लेकिन मुझ पर उसकी कुछ भी छाप न पड़ी। मैं नास्तिकता-रूपी सहाराके रेगिस्तानको लांघ गया। उन दिनों श्रीमती बेसेण्टकी कीर्ति खूब फैली हुई थी। वे नास्तिक न रहकर आस्तिक हो गई थीं। इस चीजने भी मुझे नास्तिकवादके प्रति उदासीन बनाया।

१७. 'निर्बलके बल राम'

सन् १८९०में पोर्टस्मथमें अन्नाहारियोंका सम्मेलन था। उसमें मुझे और एक हिन्दुस्तानी मित्रको निमंत्रित किया गया था। हम दोनों वहां पहुंचे। हम दोनोंको एक महिलाके घर ठहराया गया था। पोर्टस्मथ–जैसे खलासियोंके बन्दरगाहमें यात्रियोंके लिए निवासकी खोज करने पर यह कहना कठिन हो जाता है कि कौनसे घर अच्छे हैं और कौनसे बुरे।

हम रात सभासे घर लौटे। भोजन करके ताश खेलने बैठे। विलायतके अच्छे घरोंमें भी इस प्रकार मेहमानोंके साथ गृहिणी ताश खेलने बैठती है। ताश खेलते समय निर्दोष विनोद तो सब कोई करते हैं। यहां बीभत्स विनोद शुरू हुआ। मैं भी उसमें सम्मिलित हुआ। वाणीमें से कृतिमें जानेकी तैयारी थी, लेकिन मेरे भले साथीके मनमें राम बसे। उन्होंने कहा —— "अरे, तुझमें यह कलजुग कैसा! तेरा यह काम नहीं। तू यहांसे भाग जा।"

मैं शरमाया। सावधान हुआ। मन ही मन उन मित्रका उपकार माना। माताके सामने ली हुई प्रतिज्ञा याद आई। मैं भागा; थरथर कांपता हुआ अपनी कोठरीमें पहुंचा। छाती धड़क रही थी। कातिलके हाथसे बच निकलने पर किसी शिकारकी जो हालत होती है वही मेरी हुई।

परस्त्रीको देखकर विकार-वश होने और उसके साथ खेल खेलनेकी इच्छा होनेका यह पहला प्रसंग था। उस रात मुझे नींद नहीं आई। अनेक प्रकारके विचारोंने मुझ पर धावा बोल दिया। मैंने बहुत सावधान होकर चलनेका निश्चय किया। घर न छोड़ा; लेकिन दूसरे ही दिन सम्मेलनके समाप्त होने पर पोर्टस्मथ छोड़ दिया। उस समय मैं यह बिलकुल नहीं जानता था कि धर्म क्या है, ईश्वर क्या है, और वह हममें किस प्रकार काम करता है। उन दिनों तो लौकिक ढंग पर मैं इतना ही समझा था कि ईश्वरने मुझे गिरनेसे बचा लिया। 'ईश्वरने बचा लिया' इस वाक्यका अर्थ आज मैं बहुत-कुछ समझने लगा हूं। लेकिन साथ ही यह भी जानता हूं कि इस वाक्यकी पूरी कीमत मैं अभी कूत नहीं सका हूं।

१८. बैरिस्टर तो बने, किन्तु आगे क्या?

बैरिस्टर बननेके लिए दो बातें आवश्यक थीं। एक टर्म पूरी करनेकी अर्थात् सत्र संभालनेकी; और दूसरी कानूनकी परीक्षा देनेकी। सत्र संभालनेका अर्थ था दावतें खाना। और दावतें खानेका मतलब यह न था कि खाना खाना ही चाहिये, बल्कि जरूरत इस बातकी थी कि नियत समय पर हाजिर रहें और खाना खतम होनेके समय तक वहां बैठें। खानेमें अच्छे अच्छे पदार्थ होते और पीनेके लिए अच्छे दर्जेकी शराब होती थी।

शराब मेरे कामकी नहीं थी। चार जनोंके बीच शराबकी दो बोतलें मिलतीं, इसलिए अनेक चौकड़ियोंमें मेरी मांग रहा करती थी।

इस खान-पानसे बैरिस्टरीमें क्या वृद्धि हो सकती है, सो मैं न तब समझ सका, न बादमें।

कानूनकी पढ़ाई आसान थी। परीक्षाकी पुस्तकें नियत थीं। लेकिन उन्हें तो क्वचित् ही कोई पढ़ता था। रोमन लॉ पर और इंग्लैंडके कानून पर छोटी-छोटी टिप्पणियां लिखी हुई मिलती थीं। उन्हें पढ़कर पास होनेवाले मैंने देखे थे। लेकिन मुझे लगा कि मुझको मूल पुस्तकें पढ़ ही लेनी चाहिये। न पढ़नेमें मुझे विश्वासघात मालूम हुआ। इसलिए मैंने तो मूल पुस्तकोंकी खरीद पर खासा खर्च किया।

परीक्षायें मैंने पास कीं। सन् १८९१ की १० जूनको मैं बैरिस्टर कहलाया। ११ वीं जूनको इंग्लैंडके हाईकोर्टमें ढाई शिलिंग देकर अपना नाम दर्ज कराया; और १२ जूनको हिन्दुस्तानके लिए लौट पड़ा।

लेकिन मेरी निराशा और डरका पार न था। बैरिस्टर कहलाना आसान मालूम हुआ, लेकिन बैरिस्टरी करना कठिन लगा। कानून तो पढ़े, लेकिन वकालत करना न सीखा। कानूनमें मैंने कुछ धार्मिक सिद्धान्त पढ़े, जो मुझे अच्छे लगे। लेकिन मेरी समझमें यह न बैठा कि अपने धंधेमें उनका उपयोग किस प्रकार हो सकेगा।

फिर पढ़े हुए कानूनोंमें हिन्दुस्तानके कानूनका तो नाम तक न था। मुझे वकीलके नाते अपनी आजीविका प्राप्त करनेकी शक्ति संपादन करनेके बारेमें भी बड़ी शंका मालूम होने लगी।

मैंने अपने एक-दो मित्रोंके सामने अपनी ये कठिनाइयां रखीं। उन्होंने सुझाया कि मैं दादाभाईकी सलाह लूं। मैं उनसे मिला, लेकिन उनके सामने अपनी कठिनाइयां रखनेकी मेरी हिम्मत न हुई। मैं मि० फ्रेडरिक पिंकटसे मिला। उन्होंने कहा — "फीरोजशाह अथवा बदरुद्दीन तो एक-दो ही होते हैं। तुम यह निश्चित समझो कि साधारण प्रामाणिकता और लगनसे मनुष्य वकालतका धंधा आरामके साथ कर सकता है।" इन दो चीजोंकी पूंजी तो मेरे पास पर्याप्त मात्रामें थी। इसलिए अपने दिलकी गहराईमें मुझे थोड़ी आशा बंधी।

इस प्रकार निराशाके बीच तनिक-सी आशाका मिश्रण लेकर मैं थरथराते पैरों 'आसाम' स्टीमरसे बम्बईके बन्दरगाह पर उतरा।

३ : देशमें

१९. रायचन्दभाई

बम्बईकी खाड़ीमें समुद्र तूफानी था; अदनसे ही उसकी यह स्थिति थी। सब बीमार थे, अकेला मैं ही मौज कर रहा था। तूफान देखनेके लिए मैं डेक पर रहता और वहां भीगता भी था।

बाहरका यह तूफान मेरे निकट तो अन्दरके तूफानकी निशानी-जैसा ही था। लेकिन जिस तरह बाहरी तूफानके बीच मैं शांत रह सका था, उसी तरह अन्दरके तूफानके बारेमें भी कहा जा सकता है। जातिका प्रश्न तो था ही। धंधेकी चिन्ता थी। तिस पर मैं सुधारक ठहरा! इसलिए मनमें जो थोड़े सुधार सोच रखे थे, उनकी भी चिन्ता थी। दूसरी एक चिन्ता अनसोची पैदा हो गई।

मैं मांके दर्शनके लिए अधीर हो रहा था। जब हम किनारे पहुंचे तब मेरे बड़े भाई वहां मौजूद ही थे। डॉक्टर मेहताका आग्रह था कि मैं उनके घर उतरूं, इसलिए मुझे वहीं ले गये।

माताके स्वर्गवासके विषयमें मैं कुछ भी नहीं जानता था। घर पहुंचने पर मुझे यह खबर सुनाई गई और स्नान कराया गया। पिताकी मृत्युसे मुझे जो चोट पहुंची थी, उसकी तुलनामें इस मृत्युके समाचारसे मुझे कहीं अधिक चोट पहुंची। मेरे मनकी अनेक मुरादें बरबाद हो गईं। लेकिन इस मौतके समाचार सुनकर मैं फूट-फूटकर रोया नहीं। आंसुओंको प्रायः रोक पाया था। और, मैंने इस तरह बरतना शुरू कर दिया, मानो माताकी मृत्यु हुई ही नहीं।

डॉक्टर मेहताके भाई रेवाशंकर जगजीवनके साथ तो जन्मकी मित्रता बंध गई। कवि रायचन्द डॉक्टरके बड़े भाईके जमाई थे और रेवाशंकर जगजीवनकी पेढ़ीके भागीदार और कार्यकर्ता थे। उस समय उनकी उमर २५ सालसे अधिक न थी; फिर भी वे चारित्र्यवान और ज्ञानी थे। वे शतावधानी माने जाते थे। मुझे उनकी इस शक्तिकी ईर्ष्या हुई, किन्तु मैं उस पर मुग्ध न हुआ। मैं तो मुग्ध हुआ उनके व्यापक शास्त्रज्ञान पर, उनके शुद्ध चारित्र्य पर और आत्म-दर्शनकी उनकी जबरदस्त लगन पर।

वे स्वयं हजारोंका व्यापार करते थे, हीरा-मोतीकी परख करते थे और व्यापारकी उलझनें सुलझाते थे। लेकिन ये बातें उनका अपना विषय न थीं।

उनका विषय था आत्माकी पहचान। मैंने उन्हें कभी मूर्च्छित स्थितिमें नहीं देखा। जब कभी मैं उनकी दुकान पर पहुंचता, वे मुझसे धर्मचर्चाके सिवा और कोई चर्चा ही न करते। यद्यपि उस समय मुझे अपनी दिशाका ज्ञान न था, और न यही कहा जा सकता था कि मुझे साधारणत: धर्मचर्चामें कोई रस था, तो भी रायचन्दभाईकी धर्मचर्चामें मुझे रसका अनुभव होता था। उनके अनेक वचन मेरे दिलमें सीधे उतर जाते थे। मेरे मनमें उनकी बुद्धिके लिए आदर था। उनकी प्रामाणिकताका भी मैं उतना ही आदर करता था। अपने आध्यात्मिक संकटमें मैं उनका सहारा लेता था।

रायचन्दभाईके प्रति इतना आदर रखते हुए भी मैं अपने धर्मगुरुके रूपमें उन्हें अपने हृदयमें स्थान न दे सका। मेरी यह खोज आज भी जारी है।

मेरे जीवन पर गहरी छाप डालनेवाले आधुनिक पुरुष तीन हैं: रायचन्दभाईने अपने जीवंत संपर्कसे, टॉल्स्टॉयने 'स्वर्ग तेरे हृदयमें है' नामक अपनी पुस्तकसे और रस्किनने 'अन्टु दिस लास्ट' —'सर्वोदय'— नामक अपनी पुस्तकसे मुझे चकित किया।

२०. संसार-प्रवेश

जातिका झगड़ा खड़ा ही था। दो 'तड़ें' पड़ गई थीं। एक पक्षने मुझे तुरन्त जातिमें ले लिया। दूसरा पक्ष न लेने पर डटा रहा। जातिमें लेनेवाले पक्षको सन्तुष्ट करनेके लिए राजकोट ले जानेसे पहले बड़े भाई मुझे नासिक ले गये। वहां गंगास्नान कराया और राजकोट पहुंचने पर जातिको जिमाया।

इस काममें मेरी कोई दिलचस्पी न रही। बड़े भाईका प्रेम मेरे लिए अगाध था, उनके प्रति मेरी भक्ति भी उतनी ही थी; इसलिए उनकी इच्छाको आदेशरूप समझ कर मैं यंत्रकी तरह, बिना समझे, उनकी इच्छाके अनुकूल होता रहा।

जिस 'तड़' से मैं जाति-बाहर रहा, उसमें प्रवेश करनेका प्रयत्न मैंने कभी न किया। जातिके बहिष्कार-विषयक कायदेका मैं पूरा आदर करता था। अपने सास-ससुरके घर या अपनी बहनके घर पानी तक न पीता था। वे छिपे तौर पर पिलानेको तैयार होते। परंतु जो बात खुलेमें न की जा सके, उसे छिपकर करनेके लिए मेरा मन तैयार ही न होता था।

स्त्रीके साथ मेरा सम्बन्ध अभी तक मैं जैसा चाहता था वैसा बन न सका था। विलायत हो आने पर भी मैं अपने द्वेषी स्वभावको छोड़ न सका था। हर बातमें मेरी हुज्जत और मेरा वहम जारी ही रहा। एक समय तो ऐसा

आया कि मैंने उसे मायके ही भेज दिया और अत्यन्त कष्ट पहुंचानेके बाद फिरसे साथमें रखना कबूल किया।

मुझे बच्चोंकी शिक्षाके बारेमें भी सुधार करने थे। बड़े भाईके बच्चे थे और मेरा भी एक लड़का था। खयाल यह था कि मैं उन्हें अपने साथ रखूं। कुछ हद तक मैं इसमें सफल भी हो सका। बच्चोंका साथ मुझे बहुत अच्छा लगा और उनके साथ विनोद करनेकी आदत आज तक बनी हुई है।

यह तो स्पष्ट था कि खान-पानमें भी सुधार करना चाहिये। घरमें चाय-कॉफीको स्थान मिल चुका था। मैं अपने 'सुधार' लेकर आया। ओटमील पॉरिज (दलिया) दाखिल हुआ, चाय-कॉफीके बदले कोको चला। लेकिन यह परिवर्तन नामका ही था। चाय-कॉफीमें कोकोकी बढ़ती मात्र हुई थी। घरमें बूट और मोजोंका प्रवेश तो हो ही चुका था। मैंने कोट-पतलूनसे घरको पुनीत किया!

यों खर्च तो बढ़ा, लेकिन उसे लाता कहांसे?

मित्रोंने सलाह दी कि मुझे थोड़े समयके लिए बम्बई जाकर हाईकोर्टका अनुभव लेना चाहिये। मैं बम्बईके लिए रवाना हुआ।

वहां घर बसाया। एक रसोइया रखा। लेकिन मेरे लिए चार-पांच महीनेसे अधिक बम्बई रहना संभव ही न हुआ, क्योंकि खर्च बढ़ता जाता था और आमदनी कुछ न थी।

इस प्रकार मैंने संसारमें प्रवेश किया। बैरिस्टरी मुझे अखरने लगी। दिखावा ढेरका और काम पाईका। अपनी जिम्मेदारीका खयाल मुझे दबोचने लगा।

२१. पहला मुकदमा

बम्बईमें एक ओर कानूनकी पढ़ाई शुरू हुई, दूसरी ओर आहारके प्रयोग चले, तीसरी ओर बड़े भाईने मेरे लिए मुकदमे खोजनेका उद्योग शुरू किया।

हर महीने खर्च बढ़ता जाता था। बाहर बैरिस्टरकी तख्ती लगाना और घरमें बैरिस्टरीके लिए तैयारी करना! मेरा मन इन दोनोंका मेल किसी तरह मिला न पाया। इसलिए मैं व्याकुल चित्तसे पढ़ाई करता रहा।

इतनेमें तकदीरसे ममीबाईका केस मुझे मिला। स्मॉल कॉज़ कोर्टमें जाना था। लेकिन दलालको कमीशन देनेका सवाल उठा। मैं एकसे दो न हुआ। कमीशन बिलकुल न दिया। फिर भी केस तो मिला। केस आसान था। मुझे 'ब्रीफ' के रु० ३० मिले।

मैं अदालतमें खड़ा तो हुआ, लेकिन मेरे पैर कांप रहे थे और सिर चकरा रहा था। सवाल पूछना सूझता ही नहीं था।

मैं बैठ गया। दलालसे कहा—"मुझसे यह केस न चल सकेगा, पटेलके पास जाओ। मुझे दी गई फीस वापस ले लो।"

मैं भागा; शरमाया। निश्चय किया कि जब तक पूरी हिम्मत न आये, केस न लूंगा। और फिर दक्षिण अफ्रीका जाने तक कोर्टमें गया ही नहीं।

लेकिन दूसरा एक केस अर्जी तैयार करनेका था। मैंने अर्जी तैयार की। मित्र-मण्डलीको पढ़कर सुनाई। वह अर्जी पास हुई और मुझे तनिक विश्वास हुआ कि मैं अर्जी लिखने जितनी योग्यता तो बढ़ा ही लूंगा।

मेरा उद्योग बढ़ता गया। मुफ्तमें अर्जियां लिखनेका धन्धा करूं, तो अर्जियां लिखनेका काम तो मिलेगा, लेकिन उससे द्रव्यकी प्राप्ति थोड़े हो सकती है?

मैंने सोचा कि मैं शिक्षकका काम तो कर ही सकता हूं। अखबारमें विज्ञापन देखकर अर्जी भेजी, लेकिन चूंकि मैं बी० ए० न था, इसलिए मुझे वह काम न मिला।

मैं लाचार हो गया। हिम्मत हार गया। बड़े भाईको चिन्ता हुई। हम दोनोंने सोचा कि बम्बईमें और अधिक समय बिताना निरर्थक है। कुल करीब छः महीने रहनेके बाद मैंने बम्बईका घर उठा दिया।

जब तक बम्बईमें रहा, मैं वहां हर रोज हाईकोर्टमें जाता रहा। लेकिन यह नहीं कह सकता कि वहां मैंने कुछ सीखा।

घर गिरगांवमें था, फिर भी मैं क्वचित् ही गाड़ीभाड़ा खरचता था। अक्सर नियमित रूपसे पैदल ही जाता था। इसमें पूरे ४५ मिनट लगते थे और वापस घर आनेके समय भी बिला नागा पैदल ही आता था। जब मैं कमाने लगा तब भी इस प्रकार पैदल ऑफिस जानेकी आदत मैंने अन्त तक कायम रखी।

२२. पहला आघात

बम्बईसे निराश होकर मैं राजकोट पहुंचा। अलग ऑफिस खोला। गाड़ी थोड़ी चली। अर्जियां लिखनेका काम मिलने लगा और हर महीने औसत तीन सौ रुपयेकी आमदनी होने लगी।

इस प्रकार यद्यपि मेरी आर्थिक गाड़ी चल निकली थी, तो भी जीवनका पहला आघात इन्हीं दिनों पहुंचा। मैंने कानसे सुन रखा था कि ब्रिटिश अधिकारी कैसा होता है; अब मुझे वह अपनी आंखों देखनेको मिला।

उस समयके पोलिटिकल एजेण्टको मेरे भाईके बारेमें भ्रम हो गया था। इन अधिकारीसे मैं विलायतमें मिला था। यह कहा जा सकता है कि वहां उन्होंने अच्छी मित्रता निभाई थी। भाईने सोचा कि इस परिचयसे लाभ उठाकर मैं पोलिटिकल एजेण्टसे दो शब्द कहूं और उन पर कोई बुरा असर पड़ा हो, तो उसे मिटानेका प्रयत्न करूं। मुझे यह बात जरा भी न जंची। लेकिन भाईका मुलाहजा मैं तोड़ न सका। अपनी इच्छाके विरुद्ध मैं गया।

मैं उनसे मिला और पुरानी पहचान बताई। लेकिन मैंने तुरन्त ही देखा कि विलायतमें और काठियावाड़में भेद था। अपनी कुर्सी पर बैठे हुए अफसरमें और छुट्टी पर गये हुए अफसरमें भी भेद था। अधिकारीने पहचान कबूल की। लेकिन पहचानके साथ ही वे अधिक ऐंठ गये। मैंने अपनी बात शुरू की। साहब अधीर हुए; बोले: "अब आपको जाना चाहिये।"

मैंने कहा—"लेकिन मेरी बात तो पूरी सुन लीजिये।"

साहब बहुत नाराज हुए—"चपरासी, इसको दरवाजा दिखाओ।"

चपरासी दौड़ा आया। मैं तो अभी कुछ बड़बड़ा ही रहा था। मेरे कन्धे पर चपरासीने हाथ रखा और मुझे दरवाजेके बाहर निकाल दिया।

साहब गये, चपरासी भी गया। मैं चला, अकुलाया, खीझा। मैंने तुरन्त चिट्ठी घसीटी; भेजी। थोड़ी ही देरमें साहबका सवार जवाब दे गया—"आपको जो कार्रवाई करनी हो, सो करनेके लिए आप स्वतंत्र हैं।"

भाईसे चर्चा की। वे दुःखी हुए। वकील मित्रोंसे बात की। मुझे केस रखना आता ही कहां था? उस समय सर फीरोजशाह मेहता राजकोटमें थे। उनकी सलाह पुछवाई। सलाह मिली कि चिट्ठी फाड़ डालो और अपमानको पी जाओ।

मुझे यह नसीहत जहरकी तरह कड़वी लगी। लेकिन इस कड़वे घूंटको गलेके नीचे उतारनेके सिवा और कोई चारा न था। मैं इस अपमानको भूल तो नहीं सका, लेकिन मैंने इसका सदुपयोग किया—'फिर कभी अपनेको ऐसी स्थितिमें नहीं डालूंगा, इस तरह किसीकी सिफारिश नहीं करूंगा।' इस नियमको मैंने कभी नहीं तोड़ा। इस आघातने मेरे जीवनकी दिशा बदल दी।

२३. दक्षिण अफ्रीकाकी तैयारी

मेरा अधिकतर काम इन अधिकारीकी अदालतमें रहता था। खुशामद मुझसे हो नहीं सकती थी। मैं उन्हें अनुचित रीतिसे रिझाना नहीं चाहता था। उनके नाम शिकायतकी धमकी भेजकर मैं शिकायत न करूं और उन्हें कुछ भी न लिखूं यह भी मुझे अच्छा न लगा।

इस बीच मुझको काठियावाड़की खटपटका भी थोड़ा अनुभव हुआ। यह वातावरण मुझे जहर-सा लगा। मुझे बराबर इस बातकी चिन्ता रहने लगी कि मैं अपनी स्वतंत्रता किस तरह बचा सकूंगा। मैं उदासीन बना; अकुलाया।

इस बीच भाईके पास पोरबन्दरकी एक मेमन पेढ़ीका सन्देशा आया—"हमारा व्यापार दक्षिण अफ्रीकामें है। हमारी पेढ़ी बड़ी है। हमारा एक बड़ा केस बहुत समयसे चल रहा है। अगर आपके भाईको भेजें, तो वह हमारी मदद करेगा और उसे भी कुछ मदद मिल जायगी। वह हमारा केस हमारे वकीलको समझा सकेगा।"

भाईने मुझसे इसकी चर्चा की। मैं इस सबका अर्थ न समझ सका। लेकिन मैं ललचाया।

मेरे भाईने मुझे दादा अब्दुल्लाके भागीदार स्व० सेठ अब्दुल करीम झवेरीसे मिला दिया। हमारे बीच बातचीत हुई। करीम सेठने कहा—"एक सालसे अधिक आपकी जरूरत नहीं पड़ेगी। आपको जाने-आनेका फर्स्ट क्लासका किराया और रहने-खानेके खर्चके अलावा १०५ पौंड देंगे।"

इसे वकालत नहीं कह सकते। यह तो नौकरी थी। लेकिन मुझे तो जैसे-तैसे हिन्दुस्तान छोड़ना था। मैंने सेठ अब्दुल करीमका यह प्रस्ताव स्वीकार किया और दक्षिण अफ्रीका जानेके लिए तैयार हुआ।

४ : दक्षिण अफ्रीकामें

२४. नाताल पहुंचा

वियोगका जो दुःख विलायत जाते समय हुआ था, वैसा दक्षिण अफ्रीका जाते समय नहीं हुआ। इस बार केवल पत्नीके साथका वियोग दुःखदायी था। विलायतसे लौटनेके बाद एक दूसरे बालककी प्राप्ति हुई थी। हमारे आपसके प्रेममें अभी विषय तो विद्यमान था ही, फिर भी उसमें निर्मलता आने लगी थी। मेरे विलायतसे लौटनेके बाद हम बहुत कम साथमें रहे थे।

मुझे दादा अब्दुल्लाके बम्बईवाले एजेण्टकी मारफत टिकट खरीदवाना था, लेकिन स्टीमरमें कैबिन खाली न थी। मैंने डेकमें जानेसे इनकार किया। एजेण्टकी अनुमति लेकर मैंने स्वयं टिकट प्राप्त करनेका प्रयत्न किया। मैं स्टीमरके बड़े अधिकारीसे मिला। उसकी कैबिनमें एक हिंडोला खाली रहता था, जो वह मुझे देनेको तैयार हो गया। मैं खुश हुआ। सेठसे चर्चा की और टिकट खरीदवाया। यों सन् १८९३के अप्रैल महीनेमें मैं उमंगभरा दिल लेकर अपनी तकदीर आजमानेके लिए दक्षिण अफ्रीकाको रवाना हुआ।

लामू और मोम्बासा होकर हम जंजीबार पहुंचे। जंजीबारमें बहुत ज्यादा रुकना था -- आठ या दस दिन। यहां नई स्टीमर बदलनी होती थी।

कप्तानके प्रेमका कोई पार न था। इस प्रेमने मेरे लिए उलटा रूप धारण किया। उसने मुझे अपने साथ सैरको चलनेका न्योता दिया। साथमें एक अंग्रेज मित्रको भी न्योता था। हम तीनों कप्तानके मछवे पर सवार हुए। मैं इस सैरका मतलब बिलकुल न समझा था। हम हब्शी औरतोंके अहातेमें पहुंचे। हरएक एक-एक कमरेमें बन्द हो गया। लेकिन मैं तो शरमका मारा कमरेमें बन्द होकर बैठा ही रहा। कप्तानने मुझे पुकारा। मैं जिस तरह अन्दर घुसा था, उसी तरह बाहर निकल आया। मैंने ईश्वरका आभार माना कि उस बहनको देखकर मेरे मनमें रंचमात्र भी विकार पैदा न हुआ। मुझे अपनी इस दुर्बलता पर तिरस्कार पैदा हुआ कि मैं कोठरीमें बन्द होनेसे ही इनकार करनेकी हिम्मत न दिखा सका।

अपने जीवनमें इस प्रकारकी मेरी यह तीसरी कसौटी थी। मेरा बचना मेरे पुरुषार्थकी बदौलत न था। यदि मैंने कोठरीमें बन्द होनेसे साफ इनकार किया होता, तो वह मेरा पुरुषार्थ माना जाता। अपनी रक्षाके लिए मुझे तो एकमात्र ईश्वरका ही आभार मानना है। लेकिन इस किस्सेके कारण

ईश्वरके प्रति मेरी आस्था बढ़ी और मैं झूठी शरम छोड़नेकी थोड़ी हिम्मत भी बटोर सका।

जंजीवारसे मोजाम्बिक और वहांसे मई महीनेके लगभग अन्तमें मैं नाताल पहुंचा।

२५. अनुभवोंकी बानगी

डरबन नातालका बन्दरगाह कहा जाता है। अब्दुल्ला सेठ मुझे लिवाने आये थे। स्टीमर डाकमें पहुंची और नातालके लोग स्टीमर पर अपने मित्रोंको लेने आये, तभी मैं यह समझ गया कि यहां हिन्दुस्तानियोंकी बहुत इज्जत नहीं होती।

मुझे वे घर ले गये। अब्दुल्ला सेठने अपने कमरेके पड़ोसवाला कमरा मुझे दिया। वे मुझे न समझते थे और मैं उन्हें न समझता था। अपने भाई द्वारा भेजे गये कागज-पत्र उन्होंने पढ़े और वे अधिक घबराये। उनको ऐसा प्रतीत हुआ मानो भाईने उनके घर एक सफेद हाथी बांध दिया है। मेरी साहबी ठाठवाली रहन-सहन उन्हें खर्चीली मालूम हुई। उस समय मेरे लिए वहां कोई खास काम न था।

अब्दुल्ला सेठ पढ़े-लिखे बहुत कम थे, लेकिन उनका अनुभव-ज्ञान प्रचुर था। बुद्धि उनकी तीव्र थी। अंग्रेजीका ज्ञान केवल बातचीत करने जितना रोजके अभ्याससे उन्होंने प्राप्त कर लिया था। हिन्दुस्तानियोंमें उनकी बड़ी इज्जत थी। उनका स्वभाव वहमी था।

उन्हें इस्लामका अभिमान था। वे तत्त्वज्ञानकी बातोंका शौक रखते थे। उनके सहवाससे मुझे इस्लामका व्यावहारिक ज्ञान ठीक-ठीक मिला। हम एक-दूसरेको पहचानने लगे, उसके बाद वे मेरे साथ बहुत धर्मचर्चा किया करते थे।

दूसरे या तीसरे दिन वे मुझे डरबनकी अदालत दिखाने ले गये। वहां मेरी कुछ जान-पहचान कराई। अदालतमें मुझे अपने वकीलके पास बैठाया। मजिस्ट्रेट मेरी ओर देखता रहा। उसने मुझे पगड़ी उतारनेको कहा। मैंने उतारनेसे इनकार किया और अदालत छोड़ दी।

मेरे भाग्यमें तो यहां भी लड़ाई ही लिखी थी।

अब्दुल्ला सेठने मुझे पगड़ी उतारनेका भेद समझाया। जिसने मुसलमानी पोशाक पहनी हो, वह अपनी मुसलमानी पगड़ी पहन सकता है। दूसरे हिन्दुस्तानियोंको अदालतमें दाखिल होते ही अपनी पगड़ी उतार देनी चाहिये।

इन दो-तीन दिनोंमें ही मैंने यह देखा कि हिन्दुस्तानी अपने-अपने तंग दायरे बनाकर बैठ गये हैं। एक भाग मुसलमान व्यापारियोंका था; वे अपनेको 'अरब' कहते थे। दूसरा भाग हिन्दू अथवा पारसी मेहताओंका था। हिन्दू मेहता अधरमें लटकते थे। उनमें से कोई 'अरब' में मिल जाते थे। पारसी अपना परिचय परशियनके नामसे देते थे। एक चौथा और बड़ा वर्ग तामिल, तेलगू और उत्तर हिन्दुस्तानके गिरमिटियों और गिरमिट-मुक्त हिन्दुस्तानियोंका था। अंग्रेज इन गिरमिटियोंको 'कुली' के नामसे पहचानते थे। और चूंकि इनकी संख्या बड़ी थी, इसलिए दूसरे हिंदुस्तानियोंको भी वे कुली ही कहते थे। कुलीके बदले 'सामी' भी कहते थे।

इस कारण मैं 'कुली बैरिस्टर' ही कहलाया। व्यापारी लोग 'कुली व्यापारी' कहलाते थे।

इस स्थितिमें पगड़ी पहननेका प्रश्न एक बड़ा प्रश्न बन गया। पगड़ी उतारनेका मतलब था अपमान सहन करना। मैंने यह भी सोचा कि मैं हिन्दुस्तानी पगड़ीको छुट्टी दे दूं और अंग्रेजी टोप पहन लूं, जिससे उसे उतारनेमें अपमान मालूम न हो और मैं झगड़ेसे बच जाऊं।

अब्दुल्ला सेठको यह सूचना जंची नहीं। उन्होंने कहा: "अगर आप इस समय ऐसा कोई फेरफार करेंगे, तो उसका अनर्थ होगा। जो दूसरे लोग देशकी ही पगड़ी पहनना चाहते होंगे, उनकी हालत नाजुक बन जायगी। फिर, आपको तो अपने देशकी पगड़ी ही शोभा दे सकती है। अगर आप अंग्रेजी टोप पहनेंगे, तो आपकी गिनती 'वेटर' में होगी।"

इन वाक्योंमें लौकिक समझदारी थी, देशाभिमान था और थोड़ीसी संकीर्णता भी थी।

कुल मिलाकर अब्दुल्ला सेठकी दलील मुझे जंची। मैंने पगड़ीके किस्सेको लेकर अपने और पगड़ीके बचावमें अखबारोंके लिए एक पत्र लिखा। अखबारोंमें मेरी पगड़ीकी खूब चर्चा चली और तीन-चार दिनके अन्दर ही अनायास दक्षिण अफ्रीकामें मेरा विज्ञापन हो गया।

मेरी पगड़ी तो लगभग अखीर तक रही।

२६. प्रिटोरिया जाते हुए

डरबनमें अभी मैं जान-पहचान बढ़ा ही रहा था कि इतनेमें पेढ़ीके वकीलकी ओरसे पत्र आया कि केसके लिए तैयारी की जानी चाहिये और या तो अब्दुल्ला सेठको स्वयं प्रिटोरिया आना चाहिये या किसीको यहां भेजना चाहिये।

सेठने मुझे जानेके बारेमें पूछा। मैंने कहा: "मुझे केस समझायें तो मैं बताऊं।" उन्होंने अपने मुनीमोंको केस समझानेमें लगाया।

मैंने देखा कि इस केसका आधार बहीखातों पर है। जमा-खर्चके हिसाबको जाननेवाला ही केसको समझ और समझा सकता है। मुनीम जमा-उधारकी बातें करते और मैं घबराता। मुझे पता नहीं था कि पी० नोट क्या चीज है। मैंने मुनीमके सामने अपना अज्ञान प्रकट किया और उससे मुझे मालूम हुआ कि पी० नोटका मतलब प्रोमिसरी नोटसे है। मैंने जमा-खर्चके हिसाबकी किताब खरीदी और उसे पढ़ गया। थोड़ा आत्मविश्वास पैदा हुआ। मामला कुछ समझमें आया। मैं प्रिटोरिया जानेके लिए तैयार हुआ।

सेठने कहा: "मैं अपने वकीलको लिखूंगा। वे आपके ठहरनेका प्रबन्ध कर देंगे। प्रिटोरियामें मेरे मेमन दोस्त हैं; लेकिन आपका उनके यहां ठहरना ठीक न होगा। आपके नाम मेरे खानगी पत्र वगैरा पहुंचेंगे। यदि उनमें से कोई इन सबको पढ़ ले, तो हमारे केसको नुकसान पहुंचे। उनके साथ जितना कम सम्बन्ध रहे उतना ही अच्छा।"

मैंने कहा: "आपके वकील मुझे जहां ठहरायेंगे वहीं मैं ठहरूंगा, अथवा कोई अलग घर ढूंढ़ लूंगा। आप निश्चिन्त रहें। आपकी एक भी खानगी बात प्रकट न होगी। लेकिन मैं मिलता-जुलता सबसे रहूंगा। मुझे तो प्रतिपक्षीके साथ भी मित्रता साधनी है। अगर मुझसे बन पड़ा तो मैं कोशिश यह करूंगा कि यह मामला घर बैठे सुलझ जाय। आखिर तैयब सेठ भी तो आपके सगे ही हैं न?"

अब्दुल्ला सेठ कुछ चौंके। लेकिन जिस दिन यह चर्चा हुई, उस दिन मुझे डरबन पहुंचे कोई छह-सात दिन हो चुके थे। हम एक-दूसरेको जानने और समझने लगे थे। मैं अब 'सफेद हाथी' लगभग नहीं रहा था। उन्होंने कहा:

"हां . . . आ . . . आ . . .। अगर ऐसा समझौता हो जाय, तो उसके जैसी अच्छी कोई बात नहीं। लेकिन तैयब सेठ झट समझनेवाले जीव नहीं हैं। इसलिए आप जो भी कुछ करें, होशियारीसे करें।"

मैं बोला: "आप इसकी बिलकुल फिक्र न करें। मुझे केसकी चर्चा तैयब सेठसे या किसीसे करनेकी जरूरत ही नहीं। मैं तो यही कहूंगा कि दोनों घर बैठे केस सुलझा लो, ताकि वकीलोंके घर न भरने पड़ें।"

सातवें या आठवें दिन मैं डरबनसे रवाना हुआ। मेरे लिए पहले दर्जेका टिकट खरीदा गया।

नातालकी राजधानी मैरित्सबर्गमें ट्रेन करीब ९ बजे पहुंची। एक गोरा मुसाफिर आया। उसने मेरी ओर देखा। मुझे अपनेसे भिन्न रंगवाला पाकर वह परेशान हुआ। बाहर निकला। एक-दो अफसरोंको लेकर आया। किसीने मुझसे कुछ कहा नहीं। आखिर एक अफसर आया। उसने मुझे आखिरी डिब्बेमें जानेको कहा। हमारे बीच सवाल-जवाब हुए; लेकिन मैंने स्वयं उतरनेसे इनकार कर दिया। सिपाही आया। उसने मेरा हाथ पकड़ा और मुझे धक्का देकर नीचे उतारा। मेरा सामान भी उतार दिया। मैंने दूसरे डिब्बेमें जानेसे इनकार किया। ट्रेन रवाना हो गई। मैं वेटिंग रूममें बैठा। अपना हाथ-झोला साथमें रखा, बाकी सामानको मैंने हाथ न लगाया।

उन दिनों सर्दीका मौसम था। दक्षिण अफ्रीकाके ऊंचाईवाले प्रदेशमें जाड़ा बहुत सख्त होता है। मुझे जोरोंकी सर्दी मालूम हुई। मेरा ओवरकोट मेरे सामानमें था, लेकिन सामान मांगनेकी मेरी हिम्मत न पड़ी। कहीं फिर अपमान हो जाय तो? मैं जाड़ेसे कांपता रहा।

मैंने अपने धर्मका विचार किया — 'या तो मुझे अपने अधिकारोंके लिए लड़ना चाहिये अथवा देश लौट जाना चाहिये; अन्यथा जो भी अपमान हो सो सहन करके प्रिटोरिया पहुंचना चाहिये और इस केसको निपटाकर वापस देश जाना चाहिये। केसको लटकता छोड़कर भागना तो नामर्दी मानी जायगी। मुझे जो दुःख उठाना पड़ा, सो तो ऊपर-ऊपरका दर्द है, और वह गहरे पैठे हुए एक महारोगका लक्षण है। इस महारोगका नाम है रंगद्वेष। यदि इस गहरे रोगको मिटानेकी शक्ति हो, तो उस शक्तिका उपयोग मुझे करना चाहिये। और अगर इस प्रयत्नमें दुःख उठाने पड़ें तो उठाने चाहिये।' इस प्रकारका निश्चय करके मैंने यह तय किया कि दूसरी ट्रेनमें, जैसे भी बने, आगे जाना ही चाहिये।

सवेरे-सवेरे मैंने जनरल मैनेजरके नाम एक लम्बा शिकायती तार भेजा। दादा अब्दुल्लाको भी सूचित किया। वे जनरल मैनेजरसे मिले और उसने मुझे बिना रोकटोकके मेरे मुकाम तक पहुंचानेके लिए स्टेशन-मास्टरसे कहा। सेठकी सूचना पाकर व्यापारी मुझे स्टेशन पर मिलने आये। उन्होंने मेरे सामने अपने ऊपर आनेवाली मुसीबतोंका बयान किया। सारा दिन इसी तरहकी बातें सुननेमें बीता। रात पड़ी। ट्रेन आई। मेरे लिए जगह तैयार ही थी। ट्रेन मुझे चार्ल्सटाउनकी ओर ले चली।

२७. और अधिक संकट

ट्रेन सवेरे चार्ल्सटाउन पहुंची। उन दिनों चार्ल्सटाउनसे जोहानिसबर्ग पहुंचनेके लिए ट्रेन नहीं थी, बल्कि घोड़ोंकी शिकरम थी। मुसाफिर सब शिकरमके अन्दर ही बैठते। लेकिन मैं तो 'कुली' माना जाता था। अपरिचित-सा लगता था; इसलिए शिकरमवालेकी नीयत यह थी कि मुझे गोरे मुसाफिरोंके पास बैठाना न पड़े तो अच्छा। शिकरमके बाहर अर्थात् कोचवानके दायें-बायें दो बैठकें थीं। उनमें से एक बैठक पर शिकरम-कंपनीका एक गोरा अधिकारी बैठता था। वह अन्दर बैठा और मुझे कोचवानकी बगलमें बैठाया। मैं समझ गया कि यह सरासर अन्याय है, अपमान है। लेकिन मैंने इस अपमानको पी जाना उचित समझा। मन ही मन बेचैन तो बहुत रहा।

कोई तीन बजे शिकरम पारडीकोप पहुंची। अब उस गोरे अधिकारीने चाहा कि वह मेरी जगह पर बैठे। उसने मुझे पैर रखनेके पटिये पर बैठनेको कहा। मैं इस अपमानको सहनेके लिए असमर्थ था। इसलिए मैंने उससे डरते-डरते कहा — "मैं अन्दर जानेको तैयार हूं। लेकिन आपके पैरोंके पास बैठनेको तैयार नहीं।"

मेरे इतना कहते ही मुझ पर तमाचोंकी झड़ी बरस गई और उसने मेरी बांह पकड़ कर मुझे नीचे घसीटना शुरू किया। मैंने बैठकके पासके सीखचोंको भूतकी तरह कचकचाकर पकड़ रखा और निश्चय किया कि हाथ चाहे टूट जायं मगर सीखचोंको न छोड़ूंगा। वह गोरा अधिकारी मुझे गालियां दे रहा था, खींच रहा था और मार भी रहा था। मगर मैं चुप था। मुसाफिरोंमें से कुछको दया आई और उनमें से कुछ कह उठे — "इस बेचारेको वहां बैठने दो। इसे नाहक मारो मत; इसकी बात सच है। अगर वहां नहीं बैठने देते तो उसे यहां हमारे पास अन्दर बैठने दो।" यह सुनकर वह खिसियाया; फलतः उसने मुझे मारना बन्द कर दिया; मेरी बांह छोड़ दी। ऊपरसे दो-चार ज्यादा गालियां दीं और दूसरी तरफ एक हॉटेण्टॉट नौकर बैठा था, उसे अपने पैरोंके पास बैठाकर वह खुद बाहर बैठा। शिकरम रवाना हुई। मेरी छाती तो अभी धड़क ही रही थी। मुझे शक था कि मैं जीते-जी मुकाम पर भी पहुंचूंगा या नहीं। वह गोरा मेरी ओर आंखें निकालकर देखता, मुझे अंगुली दिखाता और बड़बड़ाया करता। मैं तो चुप ही रहा और प्रभुसे प्रार्थना करता रहा कि वह मेरी मदद करे।

रात पड़ी। स्टैण्डर्टन पहुंचा। कुछ हिन्दुस्तानियोंके चेहरे देखे। मुझे शांति मालूम हुई। वे मुझे ईसा सेठकी दुकान पर ले जानेके लिए आये थे। दुकान पर पहुंचनेके बाद मैंने सबको अपने पर जो बीती थी उसका किस्सा सुनाया। उन्होंने भी अपने कड़वे अनुभवोंका वर्णन करके मुझे आश्वासन दिया। मैंने शिकरम-कंपनीके एजेण्टको पत्र लिखा। उसने मुझे सूचित किया कि मुझको दूसरे मुसाफिरोंकी बराबरीमें ही जगह मिलेगी। सवेरे ईसा सेठके लोग मुझे शिकरम पर ले गये। वहां मुझे योग्य जगह मिली। बिना किसी परेशानीके मैं उस रात जोहानिसवर्ग पहुंचा।

मुझे महम्मद कासिम कमरुद्दीनकी दुकानका आदमी लेने आया था। लेकिन न मैंने उसे देखा, न वह आदमी मुझे पहचान सका। मैंने एक होटलमें ठहरनेका प्रयत्न किया, लेकिन मैनेजरने मुझे नहीं ठहराया। मैं कमरुद्दीनकी दुकान पर गया। वहां देखा कि अब्दुलगनी सेठ मेरी राह ही देख रहे थे। उन्होंने मेरा स्वागत किया। मैंने उनसे होटलकी बात कही। वे खिलखिलाकर हंस पड़े। बोले — "हमें यहां कोई होटलमें ठहरने भी देता है?" फिर उन्होंने ट्रान्सवालमें पड़नेवाले दुःखोंका इतिहास कह सुनाया।

आम तौर पर यहां हमारे लोगोंको पहले या दूसरे दर्जेका टिकट देते ही नहीं थे। लेकिन मैंने तो पहले दर्जेमें ही जानेका विचार किया। टिकटके लिए मैंने स्टेशन मास्टरको चिट्ठी लिखी और उसका जवाब पानेके लिए मैं फ्रॉककोट, नेकटाई आदि लगाकर स्टेशन पर पहुंचा। स्टेशन मास्टर ट्रान्सवालर न था, बल्कि हॉलैण्डर था। उसने मुझे वस्तुस्थिति समझाई और टिकट दिया। अब्दुलगनी सेठ मुझे विदा करने आये थे। यह कौतुक देखकर वे खुश हुए। उन्हें आश्चर्य हुआ। लेकिन उन्होंने मुझे होशियार किया — "आप सही-सलामत प्रिटोरिया पहुंच जायें तो भर पाये। गार्ड आपको पहले दर्जेमें आरामसे बैठने न देगा।"

मैं तो पहले दर्जेके डिब्बेमें जाकर बैठा। ट्रेन रवाना हुई। जर्मिस्टन पहुंचने पर गार्ड टिकट देखने निकला। मुझे देखकर ही वह चिढ़ गया। अंगुलीसे इशारा करके बोला — "तीसरे दर्जेमें जाओ।"

इस डिब्बेमें एक ही अंग्रेज मुसाफिर था। उसने गार्डको आड़े हाथों लिया — "देखते नहीं हो कि इनके पास पहले दर्जेका टिकट है? मुझे इनके बैठनेसे कुछ भी कष्ट नहीं है।" और मुझसे कहा — "आप अपने आरामसे बैठे रहिये।"

गार्ड बड़बड़ाया और चल दिया।

रातके करीब आठ बजे ट्रेन प्रिटोरिया पहुंची।

२८. प्रिटोरियामें

प्रिटोरिया स्टेशन पर दादा अब्दुल्लाके वकीलका कोई आदमी मुझे लिवाने आया न था। मैं परेशान हुआ। मुझे अंदेशा था कि होटलमें कोई ठहरायेगा नहीं। स्टेशनके खाली होने तक मैं वहीं ठहरा रहा। मैंने टिकट कलेक्टरसे पूछना शुरू किया। उसने विनयपूर्वक उत्तर दिये। किन्तु वह मेरी बहुत अधिक मदद कर सकनेकी स्थितिमें न था। पास ही एक अमेरिकन हब्शी सज्जन खड़े थे। उन्होंने मुझसे बातचीत शुरू की। वे मुझे अमेरिकन मालिकके एक छोटे होटलमें ले गये। मालिक मुझे एक रातके लिए ठहरानेको राजी हुआ। लेकिन उसने शर्त यह की कि मुझे अपने कमरेमें ही खाना होगा, ताकि, उसके गोरे ग्राहक उसे छोड़ न जायं। मैंने शर्त कबूल की। मुझे कमरा दिया गया।

कुछ देर बाद मालिक मेरे पास आया। उसने कहा — "मैंने अपने ग्राहकोंसे आपके बारेमें बात करके पूछताछ की है। उन्हें कोई आपत्ति न होगी, यदि आप भोजन-गृहमें खाना खायें। साथ ही आप जितने समय तक यहां रहना चाहें रहें। उन्हें इसमें भी कोई अड़चन नहीं। इसलिए अब आप चाहें तो मेरे भोजन-गृहमें पधारें और जब तक आपकी इच्छा हो तब तक यहां रहें।"

मैं भोजनालयके कमरेमें गया। निश्चिन्त भावसे भोजन किया।

दूसरे दिन सुबह मैं वकीलके घर गया। उनका नाम था ए० डब्ल्यू० बेकर। उनसे मिला। वे मुझसे प्रेमपूर्वक मिले और मेरे बारेमें थोड़ी हकीकत पूछी, जो मैंने उन्हें कही। केसके बारेमें बातचीत करते हुए उन्होंने कहा — "केस लम्बा और उलझन भरा है, इसलिए आपसे तो मैं उतना ही काम ले सकूंगा, जितनेसे मुझे आवश्यक हकीकत वगैरा जाननेको मिल सके। लेकिन अब अपने मुवक्किलके साथ पत्र-व्यवहार करना मेरे लिए आसान हो जायगा।"

मेरे लिए रहनेका प्रबन्ध करनेकी दृष्टिसे वे मुझे एक भटियारेकी स्त्रीके घर ले गये; स्त्रीने मुझे ठहराना कबूल किया।

मि० बेकर वकील और धर्माग्रही पादरी थे। अपनी पहली ही मुलाकातमें उन्होंने धर्म-संबंधी मेरी मनोदशा जान ली। मैंने उनसे कहा — "मैं जन्मसे हिन्दू हूं। मुझे हिन्दू धर्मका बहुत ज्ञान नहीं है। दूसरे धर्मोंका ज्ञान भी कम ही है। मैं कहां हूं, क्या मानता हूं, मुझे क्या मानना चाहिये, सो सब मैं जानता नहीं। मैं अपने धर्मका गहराईसे निरीक्षण करना चाहता हूं। यथाशक्ति दूसरे धर्मोंका भी अभ्यास करनेका मेरा इरादा है।"

यह सब सुनकर मि० बेकर खुश हुए। उनके अपने कुछ साथी थे। वे हमेशा एक बजे कुछ मिनटोंके लिए इकट्ठे होते थे और आत्माकी शांति एवं प्रकाश (ज्ञानके उदय) के लिए प्रार्थना करते थे। उन्होंने मुझे उसमें सम्मिलित होनेको कहा। मैंने कबूल किया कि जहां तक बनेगा, मैं आता रहूंगा।

हम अलग हुए। होटलका बिल मैंने चुकाया। मैं नये घरमें गया। घरकी मालकिन भली स्त्री थी। इस परिवारके साथ तुरन्त हिलमिल जानेमें मुझे देर न लगी।

शाम हुई। ब्यालू किया। और फिर तो मैं अपने कमरेमें जाकर विचारोंमें गर्क हो गया। मैंने देखा कि मेरे लिए तुरन्त कोई काम नहीं है। अब्दुल्ला सेठको खबर भेजी। मि० बेकरकी मित्रताका क्या अर्थ हो सकता है? खिस्ती धर्मके अभ्यासमें मुझे कहां तक आगे बढ़ना चाहिये? हिन्दू धर्मका साहित्य कहांसे प्राप्त करना चाहिये? उसे जाने बिना मैं खिस्ती धर्मके स्वरूपको क्योंकर जान सकता हूं? एक ही निर्णय मैं कर सका -- मुझे जो अभ्यास सहज भावसे करना पड़े सो मैं निष्पक्ष दृष्टिसे करूं और ईश्वर जिस समय जो सुझा दे, मि० बेकरके समुदायको उस समय वहीं जवाब दूं। जब तक मैं अपने धर्मको पूरी तरह समझ न सकूं, तब तक मुझे दूसरा धर्म अपनानेका विचार नहीं करना चाहिये। इस प्रकार सोचते-सोचते मैं निद्रावश हुआ।

२९. खिस्तियोंसे सम्पर्क

दूसरे दिन एक बजे मैं मि० बेकरके प्रार्थना-समाजमें गया। वहां मि० कोट्स आदिसे जान-पहचान हुई। सबने घुटनोंके बल बैठकर प्रार्थना की। मैंने भी उनका अनुकरण किया। प्रार्थनामें जिसकी जो इच्छा हो, सो वह ईश्वरसे मांगता था। इस प्रार्थनामें भजन-कीर्तन नहीं होता था। सबके लिए यह समय दोपहरके भोजनका था, इसलिए इस प्रकार प्रार्थना करके सब अपने-अपने भोजनके लिए जाते थे। प्रार्थनामें पांच मिनटसे ज्यादा समय नहीं लगता था।

मि० कोट्स शुद्ध मनके एक कट्टर नौजवान क्वेकर थे। उनके साथ मेरा गाढ़ परिचय हो गया। हम प्रायः टहलनेको भी जाने लगे। वे मुझे खिस्तियोंके घर ले जाते।

कोट्सने मुझे पुस्तकोंसे लाद दिया। ज्यों-ज्यों वे मुझे पहचानते जाते, त्यों-त्यों जो पुस्तक उन्हें जंचती, वह मुझे पढ़नेके लिए देते। मैंने भी केवल

श्रद्धावश उन-उन पुस्तकोंको पढ़ना स्वीकार किया। हम इन पुस्तकोंकी चर्चा भी करते थे।

कोट्सकी ममताका पार न था। उन्होंने मेरे गलेमें वैष्णवी कण्ठी देखी। इसे उन्होंने एक वहम समझा और वे कण्ठी देखकर दुःखी हुए — "तुम-जैसेको यह वहम शोभा नहीं देता, लाओ इसे तोड़ डालूं।"

"यह कण्ठी टूट नहीं सकती; माताजीकी प्रसादी है।"

"लेकिन क्या तुम इसे मानते हो?"

"मैं इसका गूढ़ार्थ नहीं जानता। मैं नहीं समझता कि इसे न पहननेसे मेरा कोई अनिष्ट होगा। लेकिन जो कण्ठी माताजीने मुझे प्रेमपूर्वक पहनाई है, जिसे पहनानेमें उन्होंने मेरा श्रेय समझा है, उसे मैं बिना कारण त्यागूंगा नहीं। समय पाकर वह जीर्ण होगी और टूट जायगी, तो दूसरी प्राप्त करके पहननेका लोभ मुझे न होगा। लेकिन यह कण्ठी टूट नहीं सकती।"

कोट्स मेरी दलीलकी कदर न कर सके, क्योंकि उन्हें तो मेरे धर्मके प्रति ही अनास्था थी। वे मुझे अज्ञान-कूपमें से उबारनेकी आशा रखते थे। उन्होंने जिस तरह मुझे पुस्तकोंसे परिचित कराया, उसी तरह जिन्हें वे धर्माग्रही ख्रिस्ती मानते थे, उनसे भी मेरा परिचय कराया।

३०. हिन्दुस्तानियोंसे परिचय

नातालमें जो स्थान दादा अब्दुल्लाका था, प्रिटोरियामें वही स्थान सेठ तैयब हाजी खान महम्मदका था। पहले ही हफ्तेमें मैंने उनसे परिचय कर लिया। मैंने उन्हें अपना यह विचार बताया कि मैं प्रिटोरियाके प्रत्येक हिन्दुस्तानीसे मिलना चाहता हूं। मैंने हिन्दुस्तानियोंकी स्थितिका अध्ययन करनेकी अपनी इच्छा प्रकट की और इस सारे काममें उनकी मदद चाही। उन्होंने खुशी-खुशी मदद देना कबूल किया।

हिन्दुस्तानियोंकी सभा हुई। कहा जा सकता है कि उस सभामें मैंने अपने जीवनका पहला भाषण किया। मैं सत्यके विषयमें बोलना चाहता था। व्यापारियोंके मुंहसे मैं सुना करता था कि व्यापारमें सत्य नहीं चलता। उन दिनों मैं इस बातको मानता न था। आज भी नहीं मानता। अपने भाषणमें मैंने इस विचारका डटकर विरोध किया और व्यापारियोंको उनकी दोहरी जिम्मेदारीका भान कराया। परदेशमें आनेसे उनकी जिम्मेदारी देशमें रहनेके मुकाबले बढ़ गई थी, क्योंकि मुट्ठीभर हिन्दुस्तानियोंकी रहन-सहन परसे करोड़ों हिन्दुस्तानियोंका माप निकलता था।

मुझे सभाके परिणामसे संतोष हुआ। मैंने हर महीने अथवा हर हफ्ते ऐसी सभा करनेका निश्चय किया। न्यूनाधिक नियमित रूपसे यह सभा होती और उसमें विचारोंका आदान-प्रदान हुआ करता था। यों मैं प्रिटोरियामें ट्रान्सवालके और फ्री स्टेटके हिन्दुस्तानियोंकी आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक स्थितिका गहरा अध्ययन कर सका।

३१. कुलीगिरीका अनुभव

ऑरेंज फ्री स्टेटमें एक कानून पास करके सन् १८८८में या उससे पहले हिन्दुस्तानियोंके सभी हक छीन लिये गये थे। ट्रान्सवालमें १८८५ में कड़ा कानून बना। एक कानून ऐसा भी बना था कि हिन्दुस्तानी आदमी फुटपाथ पर अधिकारपूर्वक चल नहीं सकता; और रातके नौ बजे बाद बिना परवानेके बाहर नहीं निकल सकता।

मैं मि० कोट्सके साथ अक्सर रात घूमने निकलता। घर लौटते समय दस भी बज जाते। इस कारण वे या उनके कोई मित्र मुझे स्थानीय सरकारी वकील डॉ० क्राउजेके पास ले गये। उन्हें यह बात असह्य प्रतीत हुई कि मेरे लिए परवाना लेना लाजिमी है। उन्होंने मुझे परवाना देनेके बदले अपनी तरफसे एक पत्र दिया। उसका आशय यह था कि मैं चाहे जिस समय, चाहे जहां जाऊं, पुलिस इसमें कोई बाधा न डाले। मैं इस पत्रको हमेशा अपने साथ रखकर घूमता-फिरता था। मुझे कभी उसका उपयोग नहीं करना पड़ा। लेकिन इसे तो मात्र एक संयोग ही समझना चाहिये।

डॉ० क्राउजेने मुझे अपने घर आनेके लिए आमंत्रित किया। हमारे बीच मित्रता स्थापित हुई। उनके जरिये मेरा परिचय उनके विशेष प्रसिद्ध भाईसे हुआ। वे जोहानिसबर्गमें पब्लिक प्रोसिक्यूटर नियुक्त हुए थे। बादमें ये संबंध मेरे लिए सार्वजनिक दृष्टिसे उपयोगी सिद्ध हुए थे और इनके कारण मेरे कुछ सार्वजनिक काम सरल हो सके थे।

फुटपाथ पर चलनेका प्रश्न मेरे लिए तनिक गम्भीर परिणामवाला सिद्ध हुआ। मैं हमेशा प्रेसीडेण्ट स्ट्रीटके रास्ते एक खुले मैदानमें जाता था। इस मुहल्लेमें प्रेसीडेण्ट क्रूगरका घर था। उसके सामने एक सिपाही पहरा देता रहता। मैं प्रायः हमेशा इस सिपाहीके बहुत नजदीकसे गुजरा करता था। लेकिन सिपाही मुझसे कभी कुछ न कहता। सिपाही समय-समय पर बदलते रहते थे। एक बार एक सिपाहीने बिना चेतावनीके, फुटपाथ परसे उतर जानेको कहे बिना ही, मुझे धक्का मारा, लात मारी और नीचे उतार दिया।

मैं गहरे विचारमें डूब गया। उससे लात मारनेका कारण पूछनेसे पहले ही कोट्सने, जो उधरसे गुजर रहे थे, मुझे पुकार कर कहा :

"गांधी, मैंने सब कुछ देखा है। यदि आपको केस चलाना हो, तो मैं गवाही दूंगा।"

मैंने कहा — "मैं तो यह नियम बना चुका हूं कि मुझ पर जो कुछ बीते, उसके लिए मैं अदालतकी सीढ़ी कभी न चढ़ूंगा। अतएव मुझे केस नहीं चलाना है।"

कोट्सने उस सिपाहीसे डच भाषामें बातचीत की। सिपाहीने मुझसे माफी मांगी। मैं तो उसे माफ कर ही चुका था।

लेकिन उसके बाद मैंने उस गलीसे जाना छोड़ दिया।

इस घटनाने भारतवासियोंके प्रति मेरी भावनाको अधिक गहरा बना दिया। मैंने देखा कि स्वाभिमानकी रक्षा करनेकी इच्छा रखनेवाले भारतीयके लिए दक्षिण अफ्रीका रहने योग्य देश नहीं है। मेरा मन अधिकाधिक यही सोचने लगा कि इस हालतको किस प्रकार बदला जा सकता है। लेकिन अभी मेरा मुख्य धर्म तो दादा अब्दुल्लाके केसको संभालनेका ही था।

३२. मुकदमेकी तैयारी

प्रिटोरियामें मुझे जो एक वर्ष मिला, वह मेरे जीवनमें अमूल्य था। सार्वजनिक काम करनेकी अपनी शक्तिका कुछ अंदाज मुझे यहां हुआ और यहीं मुझे उसे सीखनेका अवसर मिला। धार्मिक भावना अपने-आप तीव्र होने लगी। और मैं कह सकता हूं कि सच्ची वकालत भी मैं यहीं सीखा। वकीलके नाते मैं बिलकुल नालायक नहीं ठहरूंगा, इसका विश्वास भी मुझे यहीं हुआ। वकील बननेकी चाबी भी यहीं मेरे हाथ लगी।

दादा अब्दुल्लाका मुकदमा छोटा न था। दावा ४०,००० पौण्डका यानी छः लाख रुपयोंका था।

दोनों पक्षोंकी ओरसे अच्छेसे अच्छे सॉलिसिटर और बैरिस्टर लगाये गये थे। वादीके केसको सॉलिसिटरके लिए तैयार करने और हकीकतोंका पता लगानेका सारा बोझ मुझ पर था। मैं समझ गया कि इस केसको तैयार करनेमें मुझे अपनी ग्रहण-शक्ति और व्यवस्था-शक्तिका ठीक-ठीक अन्दाज हो जायगा।

मैंने केसमें पूरी दिलचस्पी ली। मैं उसमें तन्मय हो गया। मैंने खूब मेहनत की। मुझे धार्मिक चर्चा आदिमें और सार्वजनिक काममें बहुत

दिलचस्पी थी और मैं उनमें समय भी देता था। फिर भी मेरे निकट वह चीज गौण थी। मैं केसकी तैयारीको प्रधानता देता था। मैंने मुवक्किलके केसको अन्त तक देखकर यही परिणाम निकाला कि उसका केस बहुत मजबूत है। कानूनको उसकी मदद करनी ही चाहिये।

लेकिन मैंने देखा कि इस मामलेको लड़ते-लड़ते दोनों संबंधी बरबाद हो जायेंगे।

मैंने तैयब सेठसे बिनती की। मामला आपसमें निपटा लेनेकी सलाह दी। मुझे लगा कि मेरा धर्म दोनोंसे मित्रता रखनेका है, दोनों संबंधियोंको मिलानेका है। मैंने समझौतेके लिए जी-तोड़ मेहनत की। तैयब सेठ मान गये। आखिर पंच नियुक्त हुए। उनके सामने केस चला। केसमें दादा अब्दुल्ला जीते।

लेकिन केवल इतनेसे मुझे संतोष न हुआ। यदि पंचके निर्णय पर अमल होता, तो तैयब सेठ उतनी रकम एकसाथ दे ही नहीं सकते थे। रास्ता इसका एक ही था — दादा अब्दुल्ला उन्हें पर्याप्त समय दें। दादा अब्दुल्लाने उदारतासे काम लेकर बहुत लम्बा समय दिया। दोनों पक्ष प्रसन्न हुए। दोनोंकी प्रतिष्ठा बढ़ी। मेरे संतोषका पार न रहा। मैंने सच्ची वकालत सीखी, मनुष्यका अच्छा पहलू खोजना सीखा, मनुष्य-हृदयमें प्रवेश करना सीखा। मैंने देखा कि वकीलका कर्तव्य दोनों पक्षोंके बीच पड़ी हुई दरारको पाटनेका है। इस शिक्षणने मेरे मनमें ऐसी जड़ें जमाईं कि बीस वर्षकी मेरी वकालतका मुख्य समय अपने ऑफिसमें बैठकर सैकड़ों मामलोंको आपसमें निपटानेमें ही बीता। इसमें मैंने कुछ खोया नहीं। यह भी नहीं कह सकता कि मैंने धन खोया। आत्मा तो खोयी ही नहीं।

३३ धार्मिक मन्थन

मेरे भविष्यके बारेमें मि० बेकरकी चिन्ता बढ़ती जाती थी। वे मुझे वेलिंग्टन कन्वेन्शनमें ले गये। उन्हें यह आशा थी कि इस सम्मेलनमें होनेवाली जागृति, उसमें आनेवाले लोगोंके धार्मिक उत्साह और उनकी निष्कपटताका मेरे हृदय पर ऐसा गहरा प्रभाव पड़ेगा कि मैं खिस्ती बने बिना रह न सकूंगा।

लेकिन मि० बेकरका अंतिम आधार प्रार्थनाकी शक्ति पर ही था। उसकी महिमाके विषयमें मैंने सब कुछ तटस्थ भावसे सुना। मैंने उनसे कहा कि यदि खिस्ती बननेका अंतर्नाद आया, तो उसे स्वीकार करनेमें मेरे लिए कोई भी वस्तु बाधक न होगी। अंतर्नादके वश होना मैं बरसों

पहले सीख चुका था। उसके वश होनेमें मुझे आनन्द आता था। उसके विरुद्ध जाना मेरे लिए कठिन और दुःखद था।

संमेलनमें श्रद्धालु ख्रिस्तियोंसे मेरी भेंट हुई। उसमें सम्मिलित होनेवालोंकी धार्मिकताको मैं समझ सका; उसकी कदर कर सका। किन्तु मुझे अपनी मान्यतामें —— अपने धर्ममें —— परिवर्तन करनेका कोई कारण न मिला। मुझे ऐसा प्रतीत न हुआ कि ख्रिस्ती बनने पर ही मैं स्वर्गमें जा सकता हूं या मोक्ष प्राप्त कर सकता हूं। जब मैंने यह बात उन भले ख्रिस्ती मित्रोंसे कही, तो उन्हें आघात पहुंचा। किन्तु मैं लाचार था।

मेरी कठिनाइयां गहरी थीं। मेरे गले यह बात उतरती न थी कि 'एक ईशु ख्रिस्त ही ईश्वरके पुत्र हैं। उन्हें जो मानेगा वही तरेगा।' मैं ईशुको एक त्यागी, महात्मा और दैवी शिक्षकके रूपमें मान सकता था। लेकिन उन्हें एक अद्वितीय पुरुष मानना मेरे लिए सम्भव न था। ईशुकी मृत्युसे संसारको भारी दृष्टान्त मिला, लेकिन उनकी मृत्युमें कोई गूढ़ चमत्कारिक प्रभाव था, इस बातको मेरा हृदय स्वीकार न करता था। ख्रिस्तियोंके पवित्र जीवनसे मुझे ऐसी कोई चीज न मिली, जो दूसरे धर्मानुयायियोंके जीवनसे न मिलती हो। सिद्धान्तकी दृष्टिसे ख्रिस्ती सिद्धान्तोंमें मुझे कोई अलौकिकता नहीं दिखाई दी। त्यागकी दृष्टिसे हिन्दू-धर्मानुयायियोंका त्याग मुझे श्रेष्ठतर मालूम हुआ। ख्रिस्ती धर्मको मैं संपूर्ण अथवा सर्वोपरि धर्मके रूपमें स्वीकार न कर सका।

अपना यह हृदय-मन्थन मैंने अवसर पाकर ख्रिस्ती मित्रोंके सम्मुख रखा। वे मुझे इसका कोई सन्तोषजनक उत्तर न दे सके।

लेकिन जिस तरह मैं ख्रिस्ती धर्मको अंगीकार न कर सका, उसी तरह हिन्दू धर्मकी संपूर्णताके विषयमें अथवा उसके सर्वोपरि होनेके विषयमें भी उस समय मैं कोई निश्चय न कर सका। हिन्दू धर्मकी त्रुटियां मेरी आंखोंके सामने तैरा करती थीं। यदि अस्पृश्यता हिन्दू धर्मका अंग है, तो वह मुझे उसका सड़ा हुआ और फाजिल अंग प्रतीत हुआ। अनेक सम्प्रदायों तथा अनेक जाति-बिरादरियोंके अस्तित्वको मैं समझ न सका।

जिस प्रकार ख्रिस्ती मित्र मुझे प्रभावित करनेका प्रयत्न कर रहे थे, उसी प्रकार मुसलमान मित्रोंका भी प्रयत्न चालू था। अब्दुल्ला सेठ मुझे इस्लामका अध्ययन करनेके लिए ललचा रहे थे। उसकी खूबियोंकी चर्चा तो वे करते ही रहते थे।

मैंने अपनी मुसीबतें रायचन्दभाईके सामने रखीं। हिन्दुस्तानके दूसरे धर्मशास्त्रियोंके साथ भी पत्र-व्यवहार किया। उनके जवाब भी आये।

रायचन्दभाईके पत्रसे मुझे कुछ शांति प्राप्त हुई। उन्होंने मुझे धीरज रखने और हिन्दू धर्मका गहरा अध्ययन करनेकी सलाह दी। उनके एक वाक्यका भावार्थ इस प्रकार था — "निष्पक्षतासे विचार करते हुए मुझे यह प्रतीति हुई है कि हिन्दू धर्ममें जो सूक्ष्म और गूढ़ विचार हैं, आत्माका निरीक्षण है, दया है, वह दूसरे धर्ममें नहीं है।"

मेरा अध्ययन मुझे एक ऐसी दिशामें ले गया, जो खिस्ती मित्रोंके लिए इष्ट नहीं थी। यद्यपि मैं उनके सोचे हुए मार्ग पर नहीं मुड़ा, तो भी उनके समागमने मुझमें जो धर्म-जिज्ञासा जाग्रत की, उसके लिए तो मैं उनका चिरऋणी बन गया।

३४. को जाने कलकी ?

मुकदमा पूरा होने पर मुझे लगा कि अब मेरा प्रिटोरियामें रहना निरर्थक है। मैं डरबन पहुंचा। वहां जाकर हिन्दुस्तान लौटनेकी तैयारी की। अब्दुल्ला सेठने सिडनहैममें मेरे लिए एक भोजका कार्यक्रम रखा था।

वहां सारा दिन बिताना था।

मेरे सामने कुछ अखबार पड़े थे। मैं उन्हें देख रहा था। एक कोनेमें मैंने एक छोटा-सा पैरा देखा। शीर्षक था 'इंडियन फ्रेंचाइज'। आशय उसका यह था कि नातालकी धारासभामें हिन्दुस्तानियोंको अपने सदस्य चुननेके जो अधिकार थे, वे रद्द कर दिये जायं। मैं इस कानूनसे अपरिचित था। मजलिसमें आये हुए किसीको भी हिन्दुस्तानियोंके हक छीननेवाले इस बिलका कोई पता न था। मैंने अब्दुल्ला सेठसे पूछा। उन्होंने कहा — "इन मामलोंमें हम क्या जानें? हमें तो व्यापार पर कोई आफत आती है, तो उसका पता चलता है। अखबार पढ़ते हैं तो उसमें भी भाव-तावकी बातें ही समझते हैं। कानूनकी बातोंको हम क्या जानें? हमारे आंख-कान तो हैं हमारे गोरे वकील।"

"लेकिन यहींके जनमे और अंग्रेजी पढ़े-लिखे जो इतने सारे नौजवान हिन्दुस्तानी यहां हैं, वे क्या करते हैं?"

अब्दुल्ला सेठने सिर पर हाथ रखा और कहा — "अरे भाई, उनसे हमें क्या मिल सकता है? वे तो हमारे पास भी नहीं फटकते और सच पूछो तो हम भी उन्हें नहीं पहचानते। वे खिस्ती ठहरे। इसलिए पादरियोंके पंजेमें रहते हैं। और पादरी गोरे हैं, जो सरकारके तावेमें हैं।"

मेरी आंख खुली। सोचा, इन लोगोंको अपनाना चाहिये। क्या खिस्ती धर्मका यही अर्थ है? वे खिस्ती हैं, इसलिए क्या देशके नहीं रहे और परदेशी बन गये?

लेकिन मुझे तो वापस देश लौटना था। इसलिए ऊपरके विचारोंको मैंने प्रकट न किया। अब्दुल्ला सेठसे कहा :

"लेकिन यदि यह कानून ज्योंका त्यों पास हो गया, तो आपको भारी पड़ जायेगा। यह तो हिन्दुस्तानियोंकी हस्तीको मिटानेका पहला कदम है। इसमें स्वाभिमानकी हानि है।"

"तो आप क्या सलाह देते हैं?"

हमारी इस बातचीतको दूसरे मेहमान भी ध्यानसे सुन रहे थे। उनमें से एकने कहा—"मैं आपसे सच बात कहूं? अगर आप इस स्टीमरसे न जायं और एकाध महीना रुक जायं, तो जिस तरह आप कहेंगे हम लड़ेंगे।" दूसरे कह उठे :

"यह बात सच है। अब्दुल्ला सेठ, आप गांधीभाईको रोक लीजिये।"

अब्दुल्ला सेठ उस्ताद थे। वे बोले—"अब इन्हें रोकनेका मुझे अधिकार नहीं, अथवा जितना मुझे है उतना ही आपको है। लेकिन आप जो कहते हैं सो ठीक है। हम सब इन्हें रोक लें। मगर ये तो बैरिस्टर हैं, इनकी फीसका क्या होगा?"

मुझे दुःख हुआ और मैं बीचमें ही बोल उठा :

"अब्दुल्ला सेठ, इसमें मेरी फीसका सवाल उठता ही नहीं। सार्वजनिक सेवामें फीस कैसी? यदि मैं रुका तो एक सेवकके नाते ही रुकूंगा। अगर आपको विश्वास हो कि सब मेहनत करेंगे, तो मैं एक महीना रुक जानेको तैयार हूं। इतना जरूर है कि यद्यपि आपको मुझे कुछ देना नहीं होगा, फिर भी ऐसे काम बिलकुल बिना पैसेके तो हो ही नहीं सकते।" कई आवाजें एक साथ सुनाई पड़ीं—"खुदाकी मेहर है। पैसे तो इकट्ठा हो जायेंगे। आदमी भी हैं। बस, आप रहना कबूल कर लीजिये।"

मजलिस अब मजलिस न रही और कार्यकारिणी-समिति बन गई। मैंने मनमें लड़ाईकी रूपरेखा निश्चित की और एक महीना रह जानेका निश्चय किया।

इस प्रकार ईश्वरने दक्षिण अफ्रीकामें मेरे स्थायी निवासकी नींव डाली और स्वाभिमानकी लड़ाईका बीज बोया गया।

३५. नातालमें बस गया

सन् १८९३ में सेठ हाजी मुहम्मद हाजी दादा नातालकी हिन्दुस्तानी जनताके अग्रगण्य नेता माने जाते थे। इसलिए उनके सभापतित्वमें एक सभा हुई। उसमें फ्रेंचाइज़ बिलका विरोध करनेका प्रस्ताव पास हुआ। स्वयंसेवकोंकी भरती हुई। आये हुए दुःखके सामने नीच-ऊंच, छोटे-बड़े, मालिक-नौकर, जात-पांत, धर्म-प्रान्त आदिके भेद भी मिट गये। सब हिन्दकी सन्तान और सेवक थे।

मैंने सभाको वस्तुस्थिति समझायी। जगह-जगह तार रवाना हुए। ज़वाबमें बिलकी चर्चा दो दिनके लिए मुलतवी रही। सब खुश हुए।

अर्जी तैयार हुई। सहियां ली गईं। अर्जी रवाना हुई। अखबारमें छपी। लेकिन बिल तो पास हो गया।

सब जानते थे कि यही परिणाम होगा। लेकिन कौममें नवजीवनका संचार हुआ। सब कोई समझने लगे कि हम एक कौम हैं। मात्र व्यापारी हकोंके लिए ही नहीं, बलिक कौमी हकोंके लिए भी लड़ना सबका धर्म है।

उपनिवेश-मंत्रीके नाम एक जंगी अर्जी भेजनेका ठहराव किया। इस अर्जी पर जितनोंकी सहियां ली जा सकें, लेनी थीं। एक पखवाड़ेमें अर्जी भेजने योग्य सहियां मिल गयीं।

अर्जीके कारण हिन्दुस्तानकी आम जनताको नातालका पहला परिचय हुआ। 'टाइम्स ऑफ इंडिया' ने उस पर अग्रलेख लिखा और हिन्दुस्तानियोंकी मांगका अच्छा समर्थन किया। लन्दनके 'टाइम्स' का समर्थन मिला। इससे बिलको स्वीकृति न मिलनेकी आशा बंधी।

अब मेरे लिए नाताल छोड़ना कठिन हो गया। लोगोंने मुझे अत्यन्त आग्रहके साथ कहा कि मैं स्थायी रूपसे नातालमें ही बस जाऊं। मैंने मन ही मन निश्चय किया था कि मुझे सार्वजनिक खर्च पर हरगिज न रहना चाहिये। मैंने अलग घर बसानेकी आवश्यकता अनुभव की। उस समय मैंने यह माना कि घर अच्छा और अच्छी बस्तीमें लेना चाहिये।

मैंने यह सोचा कि दूसरे बैरिस्टरोंकी तरह रहनेसे कौमका सम्मान बढ़ेगा। मुझे लगा कि इस प्रकारका घर मैं तीन सौ पौंड प्रतिवर्षके बिना चला ही न सकूंगा। मैंने निश्चय किया कि कोई इतनी रकमकी वकालतका विश्वास दिला सके तो ही मैं रह सकता हूं। और मैंने कौमके लोगोंसे अपने निश्चयकी चर्चा की।

इस पर बहस हुई। आखिर नतीजा यह निकला कि कोई बीस व्यापारियोंने एक वर्षके लिए मेरा सालियाना निश्चित कर दिया। इसके

अलावा दादा अब्दुल्ला विदाईके समय मुझे जो भेंट देनेवाले थे, उसके बदले उन्होंने मुझे आवश्यक फर्नीचर खरीद दिया और मैं नातालमें बस गया।

३६. रंगभेद

मुझे वकालतकी सनद लेनी थी। मैंने अर्जी दी। साथमें दो प्रसिद्ध गोरे व्यापारियोंके प्रमाण-पत्र भेजे और एटर्नी-जनरल मि० एस्कम्बने अर्जी पेश करना मंजूर किया।

वकील-मण्डलने मेरी अर्जीका विरोध करनेका निश्चय किया। उसके वकीलने अब्दुल्ला सेठकी मारफत मुझे बुलाया। उन्होंने मेरे साथ शुद्ध हृदयसे बात की। उन्हें गोरोंके प्रमाण-पत्रोंसे संतोष नहीं हुआ। उन्होंने अब्दुल्ला सेठका शपथ-पत्र चाहा; और इसका जिक्र करते हुए जो भाव प्रदर्शित किया, उससे मुझे क्रोध आ गया। लेकिन मैंने उसे रोका। आवश्यक शपथ-पत्र तैयार किया और उन्हें दिया। लेकिन वकील-मंडलने अपना विरोध अदालतके सामने पेश किया। अदालतने उसे रद्द कर दिया।

मुख्य न्यायाधीशने कहा —"अदालतके नियमोंमें काले-गोरेका भेद नहीं है। हमें मि० गांधीको वकालत करनेसे रोकनेका अधिकार नहीं है। अर्जी मंजूर की जाती है। मि० गांधी, आप शपथ ले सकते हैं।"

मैं उठा। रजिस्ट्रारके सामने मैंने शपथ ली। शपथ लेनेके बाद तुरन्त ही मुख्य न्यायाधीशने कहा —"अब आपको अपनी पगड़ी उतारनी चाहिये। वकीलके नाते वकीलोंकी पोशाकसे संबंध रखनेवाले अदालती नियमका पालन आपको भी करना चाहिये।"

मैं अपनी मर्यादाको समझा। मैंने पगड़ी उतारी।

अब्दुल्ला सेठको और दूसरे मित्रोंको मेरी यह नरमी (अथवा कमजोरी) अच्छी न लगी। मैंने उन्हें समझानेका प्रयत्न किया। लेकिन उनको संतोष-जनक ढंगसे समझा न सका। मेरे जीवनमें आग्रह और अनाग्रह हमेशा साथ-साथ ही चलते रहे हैं। सत्याग्रहमें यह अनिवार्य है, ऐसा बादमें कई बार मैंने अनुभव किया है। अपनी इस समझौता-वृत्तिके लिए मुझे कई बार जानका खतरा उठाना पड़ा है और मित्रोंके असंतोषको सहना पड़ा है। लेकिन सत्य वज्रके समान कठिन है और कमलके समान कोमल है।

वकील-मंडलके विरोधने दक्षिण अफ्रीकामें दूसरी बार मेरे विज्ञापनका काम किया।

३७. नाताल इंडियन कांग्रेस

वकीलका धंधा करना मेरे लिए गौण वस्तु थी और हमेशा गौण ही रही। नातालमें अपने निवासको सार्थक बनानेके लिए मुझे सार्वजनिक काममें तन्मय होना था। मुझे एक संस्थाकी स्थापना करना आवश्यक मालूम हुआ। इसलिए मैंने अब्दुल्ला सेठसे सलाह की, दूसरे साथियोंसे मिला, और हमने एक सार्वजनिक संस्था खड़ी करनेका निश्चय किया। यों सन् १८९४ के मई महीनेकी २२वीं तारीखको 'नाताल इंडियन कांग्रेस' का जन्म हुआ।

मैंने शुरूसे ही सीख लिया था कि सार्वजनिक काम कभी कर्ज लेकर न करना चाहिये। दूसरे कामोंके बारेमें लोगोंका चाहे विश्वास किया जा सके, लेकिन पैसेके बारेमें विश्वास नहीं किया जा सकता। मैं यह देख चुका था कि अपनी लिखवाई हुई रकम देनेका धर्म लोग कहीं भी नियमित रीतिसे नहीं पालते। इसलिए 'नाताल इंडियन कांग्रेस' ने कभी कर्ज लेकर काम किया ही नहीं।

सदस्य बनानेमें साथियोंने असीम उत्साहका परिचय दिया था। बहुतेरे लोग खुश होकर नाम लिखाते और तुरन्त पैसे दे देते थे। लेकिन पैसा इकट्ठा करना ही तो हमारा हेतु नहीं था। आवश्यकतासे अधिक पैसे न रखनेके तत्त्वको भी मैं समझ चुका था।

कांग्रेसकी पाई-पाईका हिसाब शुरूसे ही साफ रहा था। शुद्ध हिसाबके बिना शुद्ध सत्यकी रक्षा करना असम्भव है।

कांग्रेसका दूसरा अंग उपनिवेशमें पैदा हुए हिन्दुस्तानियोंकी सेवा करना था। इसके लिए 'कॉलोनियल बॉर्न इंडियन एजुकेशनल एसोसिएशन' (उपनिवेशमें पैदा हुए हिन्दुस्तानियोंकी शिक्षा-संस्था) की स्थापना की गई।

कांग्रेसका तीसरा अंग था बाहरी काम। इसमें दक्षिण अफ्रीकाके अंग्रेजोंमें और सुदूर इंग्लैण्ड तथा हिन्दुस्तानमें सच्ची स्थितिका प्रचार करनेका काम था। इस हेतुसे मैंने दो पुस्तिकायें लिखीं। इन दोनों पुस्तिकाओंको तैयार करनेमें मैंने बहुत मेहनत और अध्ययन किया था। उसका परिणाम भी वैसा ही हुआ। इस कार्यके निमित्तसे दक्षिण अफ्रीकामें हिन्दुस्तानियोंके मित्र पैदा हुए। इंग्लैण्डमें और हिन्दुस्तानमें सब पक्षोंकी ओरसे मदद मिली, काम करनेकी दिशा प्राप्त हुई तथा उसने निश्चित रूप धारण किया।

३८. बालासुन्दरम्

जैसी जिसकी भावना, वैसा उसका फल। अपने बारेमें मैंने इस नियमको अनेक बार लागू होते देखा है। लोगोंकी अर्थात् गरीबोंकी सेवा करनेकी प्रबल इच्छाने हमेशा गरीबोंके साथ मेरा मेल अनायास ही करा दिया है।

नाताल इंडियन कांग्रेसमें गिरमिटियोंका दल भरती नहीं हुआ था। उनके मनमें कांग्रेसके प्रति अनुराग तभी उत्पन्न होता, जब कांग्रेस उनकी सेवा करती। ऐसा अवसर उसे प्राप्त हो गया।

एक दिन फटे कपड़े पहना हुआ, थर-थर कांपता, मुंहसे लहू बहाता हुआ, आगेके दो दांत जिसके टूट गये थे ऐसा एक हिन्दुस्तानी मद्रासी हाथमें साफा लिये रोता-रोता मेरे पास आकर खड़ा हुआ। उसके मालिकने उसे बुरी तरह मारा था। इसके कारण बालासुन्दरम्के दो दांत टूट गये थे।

मैंने उसे डॉक्टरके पास भेजा। चोटके बारेमें प्रमाण-पत्र प्राप्त करके मैं बालासुन्दरम्को मजिस्ट्रेटके पास ले गया। उसने प्रमाण-पत्र पढ़कर मालिकके नाम समन्स जारी करनेका हुक्म दिया।

मेरा इरादा मालिकको सजा करानेका नहीं था। मैं तो बाला-सुन्दरम्को उसके पाससे हटाना चाहता था। मैं मालिकसे मिला। उससे कहा, "मैं आपको सजा कराना नहीं चाहता। अगर आप उसका गिरमिट दूसरेके नाम लिखनेको राजी हो जायें, तो मुझे संतोष होगा।" मालिक तो यही चाहता था। मैंने बालासुन्दरम्के लिए दूसरा मालिक खोज निकाला। मजिस्ट्रेटने गिरमिट दूसरेके नाम करा दिया।

बालासुन्दरम्के केसकी बात गिरमिटियोंमें चारों ओर फैल गई और मैं उनका भाई माना गया। मुझे यह बात अच्छी लगी। मेरे दफ्तरमें गिरमिटियों-का तांता लग गया और मुझे उनके दुःख-सुख जाननेकी सुविधा प्राप्त हुई।

बालासुन्दरम् अपना साफा हाथमें रखकर मेरे सामने आया था। इस हकीकतमें अतिशय करुण रस भरा हुआ है। उसमें हमारी नामूसी समायी हुई है। जब कोई गिरमिटिया या दूसरे अनजान हिन्दुस्तानी किसी भी गोरेके सामने जाते, तो उसके सम्मानमें पगड़ी उतारते। बालासुन्दरम्ने सोचा कि मेरे सामने भी उसी तरह आना चाहिये। मैंने उसे साफा बांधनेके लिए कहा। संकोचके साथ उसने साफा बांधा, लेकिन इससे उसे जो खुशी हुई उसे मैं समझ सका। आज तक मैं इस पहेलीको बूझ नहीं पाया हूं कि लोग दूसरोंको अपमानित करके उसमें अपने सम्मानका अनुभव कैसे कर सकते हैं!

३९. तीन पौंडका कर

बालासुन्दरम्‌के किस्सेने मुझे गिरमिटिया हिन्दुस्तानियोंके सम्पर्कमें ला दिया। लेकिन उन पर कर लादनेका जो आन्दोलन चला, उसके परिणाम-स्वरूप मुझे उनकी स्थितिका गहरा अध्ययन करना पड़ा।

सन् १८९४ में नातालकी सरकारने एक बिल तैयार किया, जिसके अनुसार गिरमिटिया हिन्दुस्तानियोंको हर साल २५ पौंडका अर्थात् ३७५ रुपयेका कर सरकारको देना जरूरी था। मैं तो इस बिलको पढ़कर दिङ्मूढ़ ही बन गया। इस विषयमें नाताल कांग्रेसको जो हलचल करनी चाहिये, सो करनेका प्रस्ताव उसने पास किया।

सन् १८६० के आसपास जब नातालमें रहनेवाले गोरोंने देखा कि ईखकी फसल वहां अच्छी हो सकती है, तो उन्होंने मजदूरोंकी तलाश शुरू की। उन्होंने हिन्दुस्तानकी सरकारके साथ चर्चा चलाकर हिन्दुस्तानी मज-दूरोंको नाताल जाने देनेकी इजाजत हासिल की। उन्हें लालच यह दिया गया था कि वहां उन्हें ५ साल तक बंधनमें रहकर मजदूरी करनी होगी और पांच सालके बाद स्वतंत्र रीतिसे नातालमें बसनेका मौका मिलेगा।

उस समय गोरोंकी इच्छा यह थी कि हिन्दुस्तानी मजदूर अपने पांच वर्ष पूरे करनेके बाद जमीन जोतें और अपने उद्यमसे नातालको लाभ पहुंचावें।

हिन्दुस्तानी मजदूरोंने इस तरहका लाभ अपेक्षासे अधिक दिया। लेकिन इसके साथ ही उन्होंने व्यापार भी शुरू कर दिया। स्वतंत्र व्यापारी भी आये।

गोरे व्यापारी चौंके। उन्हें व्यापारमें इन लोगोंकी यह होड़ असह्य मालूम हुई।

हिन्दुस्तानियोंके प्रति गोरोंके विरोधकी जड़ इसी बातमें थी।

यह विरोध कानूनके जरिये मताधिकार छीन लेने और गिरमिटियों पर कर लादनेके रूपमें मूर्तिमन्त हुआ।

हिन्दुस्तानके वाइसरॉयने २५ पौंडका कर तो नामंजूर कर दिया, लेकिन ३ पौंडका कर वसूल करनेकी स्वीकृति उन्होंने दे दी। इसमें उन्होंने हिन्दुस्तानके हितका तनिक भी विचार नहीं किया। ऐसी स्थितिवाले लोगोंसे इस प्रकारका कर दुनियामें कहीं भी वसूल नहीं होता था।

कांग्रेसको जो बात अखरी वह तो यह थी कि वह गिरमिटियोंके हितकी पूरी रक्षा न कर सकी। और कांग्रेसने अपना यह निश्चय कभी शिथिल नहीं होने दिया कि तीन पौंडके करको किसी-न-किसी दिन तो हटाना ही चाहिये। इस निश्चयके पूरा होनेमें २० वर्ष बीत गये।

४०. धर्म-निरीक्षण

इस प्रकार मैं जो अपनी कौमकी सेवामें ओतप्रोत हो गया था, उसका कारण था आत्म-दर्शनकी अभिलाषा। ईश्वरका परिचय सेवा द्वारा ही होगा, यह सोचकर मैंने सेवाधर्म स्वीकार किया था। मैं हिन्दुस्तानकी सेवा करता था, क्योंकि वह सेवा मुझे सहज प्राप्त थी और मैं उसे करना जानता था। मुझे उसकी खोजके लिए कहीं जाना न पड़ा। मैं तो यात्रा करने, काठियावाड़की खटपटोंसे छुट्टी पाने और जीविकाका साधन खोजनेके विचारसे दक्षिण अफ्रीका गया था। लेकिन वहां मैं ईश्वरकी खोजमें —आत्म-दर्शनके प्रयत्नमें फंस गया। खिस्ती भाइयोंने मेरी जिज्ञासाको बहुत तीव्र कर दिया था। वह किसी प्रकार शान्त न होती थी; और मैं शांत होना चाहूं तो भी खिस्ती भाई-बहन मुझे शांत नहीं होने देना चाहते थे।

धार्मिक ग्रंथोंके स्वाध्यायके लिए मुझे जो फुरसत प्रिटोरियामें मिली थी, वह तो अब असंभव थी। लेकिन जो थोड़ा समय बचता, उसका उपयोग मैं ऐसे वाचनमें किया करता था। मेरा पत्र-व्यवहार जारी था। रायचन्दभाई मेरी रहनुमाई कर रहे थे। किसी मित्रने मेरे लिए नर्मदाशंकरकी 'धर्म-विचार' पुस्तक भेज दी। उसकी प्रस्तावना मेरे लिए सहायक सिद्ध हुई। 'हिन्दुस्तान क्या सिखाता है?' नामक मैक्समूलरकी पुस्तक मैंने बहुत रसपूर्वक पढ़ी। थियोसॉफिकल सोसायटी द्वारा प्रकाशित उपनिषदोंका भाषान्तर पढ़ा। हिन्दू धर्मके प्रति मेरा आदर बढ़ा। मैं उसकी खूबी समझने लगा। लेकिन दूसरे धर्मोंके प्रति मेरे मनमें कोई नापसन्दगी पैदा न हुई। मैंने वाशिंग्टन अरविंग-कृत मुहम्मदका चरित्र और कार्लाइल-कृत मुहम्मद-स्तुति नामक पुस्तकें पढ़ीं। पैगम्बरके प्रति मेरा सम्मान बढ़ा। मैंने 'जरतुश्तके वचन' नामक पुस्तक भी पढ़ी।

इस प्रकार मैंने भिन्न-भिन्न संप्रदायोंका न्यूनाधिक ज्ञान प्राप्त किया। मेरा आत्म-निरीक्षण बढ़ा।

४१. घरेलू कारबार

मेरे बंबईमें और विलायतमें घर बसाकर बैठने और नातालमें घर बसानेमें अन्तर था। नातालमें कुछ खर्च मैं केवल प्रतिष्ठाके विचारसे कायम रखे हुए था। मैंने यह मान लिया था कि नातालमें हिन्दुस्तानी बैरिस्टरके नाते और हिन्दुस्तानियोंके प्रतिनिधिके नाते मुझे अपना खर्च ठीक-ठीक बढ़ाकर रखना चाहिये। इसलिए वहां मैंने अच्छी बस्तीमें और अच्छा घर भाड़े लिया था। घरकी सजावट भी अच्छी रखी थी। भोजन सादा था, लेकिन

अंग्रेज मित्रोंको न्योतना होता था। साथ ही, मैं हिन्दुस्तानी साथियोंको भी न्योतता था, इसलिए सहज ही भोजनका खर्च भी बढ़ गया।

नौकरका संकट तो सब कहीं अनुभव किया ही। किसीको नौकरकी तरह रखना मुझसे बना ही नहीं।

मेरे साथ एक साथी था। एक रसोइया रखा था, जो परिवारका अंग बन गया था। ऑफिसमें जो कारकुन थे उनमें से भी जिन्हें रखा जा सकता था, उन्हें अपने साथ मैंने घरमें ही रखा था।

ऊपर जिस साथीकी चर्चा की है, वह बहुत होशियार और मेरी जानमें वफादार था। किंतु मैं उसे पहचान न सका। मैंने ऑफिसके एक कारकुनको घरमें रखा था। मेरे साथीके दिलमें उसके प्रति ईर्ष्या पैदा हुई। उसने ऐसा जाल रचा, जिससे मेरे मनमें कारकुनके लिए शक पैदा हो। यह कारकुन बहुत स्वतंत्र स्वभावका था। उसने घर और दफ्तर दोनों छोड़ दिये। मुझे दुःख हुआ। उसके साथ अन्याय तो नहीं हुआ? यह विचार मुझे बराबर सताता रहा।

इस बीच मैंने जो रसोइया रखा था, उसे कारणवश दूसरी जगह जाना पड़ा। इसलिए उसकी जगह दूसरा रसोइया रखा।

इस रसोइयेको रखे मुश्किलसे दो या तीन दिन हुए होंगे कि इतनेमें उसने मेरे घरमें, मेरे बिना जाने, जो बुराई चल रही थी सो देख ली और मुझे सावधान करनेका निश्चय किया। लोगोंमें यह धारणा फैल चुकी थी कि मैं विश्वासशील और अपेक्षाकृत अच्छा आदमी हूं। इस कारण नये रसोइयेको मेरे ही घरमें चलनेवाली गन्दगी भयानक मालूम हुई।

लगभग बारह बजेका समय था। ऐसे समय रसोइया हांफता-हांफता ऑफिसमें आया और मुझसे बोला—"आपको कुछ देखना हो तो खड़े पैरों घर चलिये।"

मैंने कहा—"इसका क्या मतलब? तुझे यह तो बताना चाहिये कि काम क्या है। ऐसे समय मेरे लिए घर जाने और देखनेकी बात क्या हो सकती है?"

"नहीं चलेंगे तो पछतायेंगे। मैं इससे अधिक आपको और कुछ कहना नहीं चाहता।"

उसकी दृढ़तासे मैं खिंचा। अपने कारकुनको साथ लेकर घरकी ओर चला। रसोइया आगे-आगे चल रहा था।

घर पहुंचने पर वह मुझे दुमंजिले पर ले गया। जिस कमरेमें मेरा वह साथी रहता था, उसकी ओर इशारा करके बोला—"यह कमरा खोलकर देखिए।"

अब मैं समझा। मैंने कमरेका दरवाजा खटखटाया।

जवाब क्योंकर मिलता? मैंने बहुत जोरसे दरवाजा खटखटाया। दीवार कांप उठी। दरवाजा खुला। अन्दर मैंने एक बदचलन औरत देखी। उससे मैंने कहा — "बहन, तू तो यहांसे चली ही जा। अब फिर कभी इस घरमें पैर मत रखना।"

साथीसे कहा — "आजसे तुम्हारा और मेरा संबंध समाप्त हुआ। मैं खूब ठगाया और बेवकूफ बना। मुझे अपने विश्वासका ऐसा बदला तो न मिलना चाहिये था।"

साथी भड़क उठा। उसने मेरी सब पोल खोल देनेकी मुझे धमकी दी।

"मेरे पास छिपी हुई कोई बात है ही नहीं। मैंने जो कुछ भी किया हो, तुम खुशी-खुशी प्रकट करना। लेकिन तुम्हारे साथका मेरा सम्बन्ध समाप्त होता है।"

साथी अधिक भड़का। मैंने पुलिस सुपरिण्टेण्डेण्टकी मदद मांगनेका विचार किया। साथी ठण्डा पड़ा। उसने माफी मांगी और तुरन्त ही घर छोड़कर जाना कबूल किया। घर छोड़ा।

इस घटनाने ठीक समय पर मुझे सावधान कर दिया। इसके बाद ही मैं यह स्पष्ट रूपसे देख सका कि उक्त साथी मेरे लिए मोहरूप और अनिष्ट था। साथीका चाल-चलन अच्छा न था। फिर भी मैंने यह मान लिया था कि वह मेरे प्रति वफादार है। उसे सुधारनेका प्रयत्न करनेमें मैं खुद करीब-करीब बुराईमें फंस गया था। मैंने अपने हितैषियोंकी सलाहका निरादर किया था। मोहने मुझे बुरी तरह अन्धा बना दिया था।

अगर इस आकस्मिक घटनाके कारण मेरी आंख न खुली होती, मुझे सत्यका पता न चला होता, तो संभव है कि जो आत्म-समर्पण मैं कर सका हूं, उसे करनेमें मैं कभी समर्थ न होता; मेरी सेवा सदा अधूरी रहती।

लेकिन जिसे राम रखे उसे कौन चखे? मेरी निष्ठा शुद्ध थी। इस कारण अपनी भूलोंके बावजूद मैं बच गया।

उस रसोइयेको तो मानो ईश्वरने ही प्रेरित किया था! वह रसोई बनाना जानता न था। वह मेरे यहां रह न सकता था। लेकिन अगर वह न आता तो दूसरा कोई मुझे जाग्रत नहीं कर सकता था। इतनी सेवा करके रसोइयेने उसी दिन और उसी क्षण रुखसत चाही:

"मैं आपके घरमें नहीं रह सकता। आप भोले ठहरे। यहां मेरा काम नहीं।"

मैंने आग्रह नहीं किया।

अब मुझे खयाल आया कि उस कारकुनके प्रति मेरे दिलमें शक पैदा करनेवाला मेरा यह साथी ही था। मैंने उसके साथ न्याय करनेकी बहुत कोशिश की, लेकिन मैं उसे संपूर्ण रूपसे कभी संतुष्ट न कर सका। मेरे लिए यह सदा ही दुःखकी बात रही। टूटे बरतनको कितनी ही मजबूतीके साथ क्यों न जोड़ो फिर भी वह जोड़ा हुआ ही माना जायगा, साबूत हरगिज नहीं।

४२. देशकी ओर

अब मैं दक्षिण अफ्रीकामें तीन साल रह चुका था। मैं लोगोंको पहचानने लगा था। लोग मुझे पहचानने लगे थे। सन् १८९६ में मैंने छः महीनोंके लिए देश जानेकी इजाजत चाही। मैंने देखा कि मुझे दक्षिण अफ्रीकामें लम्बे समय तक रहना होगा। कह सकते हैं कि मेरी वकालत वहां ठीक चल रही थी। सार्वजनिक कामोंमें लोग मेरी उपस्थितिकी आवश्यकता अनुभव करते थे। मैं भी इसे अनुभव करता था। इसलिए मैंने दक्षिण अफ्रीकामें परिवारके साथ रहनेका निश्चय किया और इसके लिए देश हो आना ठीक समझा। साथ ही यह भी खयाल आया कि देश जानेसे कुछ सार्वजनिक काम हो सकेगा। ऐसा लगा कि देशमें लोकमत तैयार करके इस प्रश्नके विषयमें अधिक दिलचस्पी पैदा की जा सकती है।

सन् १८९६ के मध्यमें मैं 'पोंगोला' स्टीमरमें देशके लिए रवाना हुआ। यह स्टीमर कलकत्ते जानेवाली थी।

स्टीमरके कप्तानसे मित्रता हुई। वह प्लीमथ ब्रदरके सम्प्रदायका था। इस कारण हमारे बीच अध्यात्म-विद्याकी बातें ही अधिक हुईं। उसने नीति और धर्मश्रद्धाके बीच भेद किया। जिसमें नीति पर पहरा देना पड़े, वह धर्म उसे नीरस मालूम हुआ। हम एक-दूसरेको अपनी बात समझा न सके। मैं अपने इस विचारमें दृढ़ बना कि धर्म और नीति एक ही वस्तुके वाचक हैं।

चौबीस दिनके अंतमें यह आनन्ददायिनी यात्रा समाप्त हुई और मैं हुगलीके सौन्दर्यको निरखता हुआ कलकत्ते उतरा। उसी दिन मैंने बम्बईका टिकट कटाया।

५. : देशमें कार्य

४३. हिन्दुस्तानमें

कलकत्तेसे बम्बई जाते हुए बीचमें प्रयाग पड़ता था। वहां ट्रेन ४५ मिनट ठहरती थी। इस बीच मैंने शहरमें एक चक्कर लगा लेनेका विचार किया। मुझे केमिस्टकी दुकानसे दवा भी खरीदनी थी। दवा देनेमें उसने काफी समय ले लिया। स्टेशन पहुंचते ही मैंने देखा कि गाड़ी चल पड़ी है।

मैं होटलमें ठहर गया और वहींसे अपना काम शुरू करनेका निश्चय किया।

मैंने प्रयागके 'पायोनियर' पत्रके सम्पादकके नाम मुलाकातके लिए चिट्ठी लिखी। उन्होंने मुझे तुरन्त ही मिलनेको लिखा। मैं खुश हुआ। उन्होंने मेरी बातें ध्यानसे सुनीं। कहने लगे कि मैं जो भी कुछ लिखूंगा, उस पर वे तुरन्त ही अपनी टिप्पणी देंगे और बोले — "लेकिन मैं आपसे यह नहीं कह सकता कि आपकी सब मांगोंको मैं स्वीकार कर ही सकूंगा।" मैंने उनसे शुद्ध न्यायके अतिरिक्त न तो कुछ मांगा और न कुछ चाहा।

बाकीका दिन मैंने प्रयागके भव्य त्रिवेणी संगमका दर्शन करनेमें और अपने सामने पड़े कामका विचार करनेमें बिताया।

बम्बईमें बिना रुके मैं राजकोट पहुंचा और एक पुस्तिका लिखनेकी तैयारी की। उसे हरा पुट्ठा चढ़ाया गया था। इसलिए बादमें वह 'हरी पुस्तिका' के नामसे प्रसिद्ध हुई। उसमें मैंने जान-बूझकर दक्षिण अफ्रीकाके भारतीय लोगोंकी स्थितिका एक सौम्य चित्र खींचा था।

'हरी पुस्तिका' की प्रतियां समूचे हिन्दुस्तानके अखबारोंमें और सभी प्रसिद्ध पक्षोंके लोगोंके नाम भेजी थीं। 'पायोनियर' में उस पर सबसे पहले लेख प्रकाशित हुआ। उसका सार विलायत पहुंचा और सारका सार फिर रायटरकी मारफत नाताल पहुंचा। वह तार तो केवल तीन पंक्तियोंका था।

इन्हीं दिनों बम्बईमें पहली बार महामारीका प्रकोप हुआ। चारों ओर घबराहट फैल रही थी। राजकोटमें भी महामारीके फैलनेका डर था। मुझे लगा कि मैं आरोग्य-विभागमें ठीक तरहसे काम कर सकता हूं। मैंने अपनी सेवा स्टेटको देनेकी बात लिखी। स्टेटने कमेटी बैठाई और मुझे उसमें स्थान दिया। मैंने पाखानोंकी सफाई पर जोर दिया और कमेटीने गली-गलीमें जाकर पाखानोंकी जांच करनेका निश्चय किया। गरीब लोगोंने

अपने पाखानोंकी जांच करानेमें जरा भी आनाकानी नहीं की; यही नहीं, बल्कि उन्हें जो सुधार सुझाये गये, उन पर उन्होंने अमल भी किया। लेकिन जब हम सरकारी अधिकारियोंके घरोंकी जांचके लिए निकले, तो कई जगहोंमें तो हमें पाखानोंको जांचनेकी इजाजत भी न मिली। सुधारकी तो बात ही क्या?

कमेटीको ढेढ़ोंकी बस्तीमें भी जाना तो था ही। कमेटीके सदस्योंमें से केवल एक सदस्य मेरे साथ वहां जानेको तैयार हुए। मुझे तो ढेढ़ोंकी बस्ती देखकर सानन्द आश्चर्य ही हुआ। ढेढ़ोंकी बस्तीमें मैं उस दिन जीवनमें पहली बार गया था। ढेढ़ भाई-बहन हमें देखकर अचम्भेमें आ गये। उनकी बस्तीमें पाखाने तो थे ही नहीं, फिर भी इजाजत लेकर मैं उनके घरोंमें गया और घरोंकी तथा आंगनकी सफाई देखकर खुश हो गया। घरके अन्दर सब लिपा हुआ देखा। आंगन बुहारा हुआ था और जो थोड़े बरतन थे वे साफ और चमचमाते हुए थे।

४४. राजनिष्ठा और शुश्रूषा

मैंने अपने अन्दर जितनी शुद्ध राजनिष्ठाका अनुभव किया है, दूसरोंमें मुश्किलसे ही उतनी राजनिष्ठा देखी है। इस राजनिष्ठाकी जड़में सत्य-विषयक मेरा स्वाभाविक प्रेम था। राजनिष्ठाका या दूसरी किसी वस्तुका दिखावा मुझसे कभी हो ही न सका। उन दिनों भी मैं ब्रिटिश राजनीतिमें दोष तो देखता था, फिर भी कुल मिलाकर मुझे वह नीति अच्छी मालूम होती थी।

दक्षिण अफ्रीकामें मैं उलटी नीति पाता था। वहां रंगद्वेष देखता था। मैं मानता था कि यह क्षणिक और स्थानिक है, इसलिए राजनिष्ठामें मैं अंग्रेजोंकी प्रतिस्पर्धा करनेका यत्न करता था। बड़ी मेहनत और लगनके साथ मैंने अंग्रेजोंके राष्ट्रगीतका स्वर सीख लिया। और जब-जब भी बिना आडम्बरके वफादारी जतानेके अवसर आते, मैं उनमें सम्मिलित होता था।

मैं अपने परिवारके बालकोंको 'गॉड सेव दि किंग' सिखाता था। ट्रेनिंग कॉलेजके विद्यार्थियोंको मैंने यह गीत सिखाया था। लेकिन आगे चलकर मुझे यह गीत गाना खला। जैसे-जैसे अहिंसाके बारेमें मेरे विचार प्रबल होते गये, वैसे-वैसे मैं अपनी वाणी और विचारों पर अधिक अंकुश रखने लगा। मैंने अपने मित्र डॉ० बूथके सामने अपनी कठिनाई रखी। उन्होंने भी कबूल किया कि अहिंसक आदमीको इसे गाना शोभा नहीं देता।

राजकोटमें दक्षिण अफ्रीकाका मेरा काम चल रहा था, उसी बीच मैं बम्बई हो आया। पहले न्यायमूर्ति रानडेसे मिला और बादमें जस्टिस बदरुद्दीन तैयबजीसे मिला। दोनोंने मुझे सर फीरोजशाहसे मिलनेकी सलाह दी। मैं उनसे मिलनेवाला तो था ही। मैं उनके प्रभावसे चौंधियानेको भी तैयार ही था। लेकिन 'बम्बईके बेताज बादशाह' ने मुझे डराया नहीं। पिता जिस प्रेमके साथ अपने नौजवान पुत्रसे मिलता है, उसी तरह वे मुझसे मिले। उन्होंने मेरी बात सुन ली और कहा — "गांधी, तुम्हारे लिए मुझे आम सभा करनी होगी। तुम्हारी मदद करनी चाहिये।" और मुंशीसे सभाका दिन निश्चित करनेको कहा। मुझे आदेश हुआ कि मैं सभाके एक दिन पहले उनसे मिल लूं। मैं निर्भय होकर मन ही मन खुश होता हुआ घर पहुंचा।

बम्बईकी इस यात्राके दिनोंमें मैं वहां अपने बहनोईसे मिलने गया। वे बीमार थे। उनकी स्थिति गरीबीकी थी। मैं बहन-बहनोईको लेकर राजकोट पहुंचा। बीमारी अनुमानसे अधिक गंभीर हो गई। मैंने उन्हें अपने कमरेमें टिकाया। मैं सारे दिन उनके पास ही रहने लगा। रातमें भी जागना पड़ता था। उनकी सेवा करते हुए मैं दक्षिण अफ्रीकाका काम कर रहा था। बहनोईका स्वर्गवास हो गया। लेकिन उनके अंतिम दिनोंमें मुझे उनकी सेवा करनेका अवसर मिला, इससे मुझे अत्यधिक सन्तोष हुआ।

जिस तरह वफादारीका गुण मुझमें स्वाभाविक ही था, उसी तरह शुश्रूषाका भी था। बीमार अपने हों या बिराने, मुझे उनकी सेवा करनेका शौक था। शुश्रूषाके इस शौकने आगे चलकर विशाल रूप धारण किया। यह शौक आगे जाकर इतना बढ़ा कि इसके पीछे मैं अपना धंधा छोड़ता, अपनी धर्मपत्नीको लगाता, और समूचे घरको-लगा देता। इस वृत्तिको मैंने शौकका नाम दिया है, क्योंकि मैं देख सका हूं कि ये गुण जब आनन्ददायक होते हैं तभी टिक सकते हैं। जिस सेवामें आनन्द नहीं आता वह न सेवकको फलती है, न सेव्यको रुचती है। जिस सेवामें आनन्द आता है उस सेवाकी तुलनामें ऐश-आराम या धनोपार्जन आदि कार्य तुच्छ प्रतीत होते हैं।

४५. बम्बई-पूनामें सभा

बहनोईके देहान्तके दूसरे ही दिन मुझे बम्बईकी सभाके लिए जाना था। सार्वजनिक सभाके लिए अपने भाषण पर विचार करने जितना समय मुझे मिला ही न था। मैं मन ही मन यह सोचता हुआ बम्बई पहुंचा कि ईश्वर मुझे जैसे-तैसे निबाह लेगा। भाषण लिखनेका तो मुझे स्वप्नमें भी खयाल न था।

सभाकी तारीखके अगले दिन शामको पांच बजे मैं आज्ञानुसार सर फीरोजशाहके ऑफिसमें हाजिर हुआ। उन्होंने मुझे भाषण लिखकर पढ़नेकी आवश्यकता समझायी। मैंने भाषण लिखा और छपाया।

सभामें मैंने कांपते-कांपते अपना भाषण शुरू किया, लेकिन मैं हारा; ऊंची आवाजसे पढ़ न सका। मैंने अपना भाषण अपने पुराने मित्र केशवराव देशपाण्डेके हाथमें रख दिया। लेकिन उससे काम न चला। प्रेक्षकोंने वाच्छा* की इच्छा प्रकट की। वे उठे। सभा तुरन्त शान्त हो गई और सभाजनोंने अथसे इति तक भाषण सुना। सर फीरोजशाहको मेरा भाषण अच्छा लगा। मुझे गंगा नहाने जितना संतोष हुआ।

सर फीरोजशाहने मेरा रास्ता आसान कर दिया। बम्बईसे मैं पूना गया। मुझे मालूम था कि पूनामें दो पक्ष थे। मुझे तो सबकी मदद लेनी थी। मैं लोकमान्यसे मिला। उन्हें मेरा यह विचार पसन्द पड़ा। मुझे प्रोफेसर भाण्डारकर और प्रोफेसर गोखलेसे मिलनेको कहा। मैं गोखलेके पास गया। वे मुझसे बड़े प्रेमसे मिले और उन्होंने मुझको अपना बना लिया। उनके साथ भी मेरा यह पहला परिचय था। लेकिन न जाने क्यों मुझे ऐसा लगा मानो हम पहले भी मिल चुके हों। सर फीरोजशाह मुझे हिमालय-जैसे लगे। लोकमान्य समुद्र-जैसे लगे। गोखले गंगा-जैसे लगे। उसमें मैं नहा सकता था। हिमालय पर चढ़ा नहीं जाता। समुद्रमें डूबनेका भय रहता है। लेकिन गंगाकी गोदमें तो खेला जा सकता है। उसमें डोंगियां लेकर सैर की जा सकती है। राजनीतिक क्षेत्रमें गोखलेने मेरे हृदयमें जीते-जी जो स्थान बनाया और देहान्तके बाद आज भी उनका जो स्थान बना हुआ है, वैसा और कोई नहीं बना सका।

रामकृष्ण भाण्डारकरने मेरा स्वागत उसी भावसे किया, जिस भावसे पिता पुत्रका करता है। तटस्थ सभापतिके बारेमें मेरे आग्रहकी बात सुनकर

---

* सर दीनशा वाच्छा।

उनके मुंहसे सहज ही यह उद्‌गार निकला कि, 'बस, यही ठीक है।' वे सभापति-पद स्वीकार करनेको तैयार हो गये। बिना किसी होहल्ले और दिखावेके एक सादे मकानमें पूनाके इस विद्वान और त्यागी मंडलने सभा की और मुझे सम्पूर्ण प्रोत्साहनके साथ बिदा किया।

वहांसे मैं मद्रास गया। मद्रास तो पागल ही हो गया। वहां कइयोंके प्रेम और उत्साहका मैंने इतना अधिक अनुभव किया कि यद्यपि वहां सबके साथ मुख्यत: अंग्रेजीमें ही बोलना पड़ता था, फिर भी मुझे घरके जैसा ही मालूम हुआ। वे कौनसे बन्धन हैं, जिन्हें प्रेम तोड़ न सकता हो?

४६. 'जल्दी वापस लौटो'

मद्राससे मैं कलकत्ते गया। कलकत्तेमें मेरी मुश्किलोंका पार न रहा। मैं सुरेन्द्रनाथ बैनर्जीसे मिला। उन्होंने कहा—"मुझे डर है कि लोग आपके काममें दिलचस्पी नहीं लेंगे।" उन्होंने जिनके नाम बताये उन सज्जनोंसे मैं मिला। वहां मेरी दाल न गली। मेरी मुश्किलें बढ़ती जाती थीं। मैं 'अमृतबाजार पत्रिका'के कार्यालयमें गया। वहां भी जो सज्जन मुझे मिले उनका यह खयाल हो गया था कि मैं कोई रमता राम हूं। 'बंग-वासी' ने तो हद कर दी। मुझे एक घण्टे तक बैठाये ही रखा। सम्पादक महोदय दूसरोंसे बातें करते जाते थे; लोग लौटते जाते थे; लेकिन सम्पादक मेरी ओर देखते तक न थे। एक घण्टे तक राह देखनेके बाद जब मैंने अपना प्रश्न छेड़ा, तो उन्होंने कहा—"आप देखते नहीं हैं, हमारे सामने कितना काम पड़ा है? आपके जैसे तो हमारे यहां बहुतेरे आते रहते हैं। अच्छा यही है कि आप यहांसे विदा हो जायं। हमें आपकी बात नहीं सुननी है।"

मैं हारा नहीं। अपने रिवाजके मुताबिक मैं अंग्रेजोंसे भी मिला। 'इंग्लिशमैन' के मि० सॉण्डर्सने मुझे अपनाया। उनका ऑफिस मेरे लिए खुल गया। उनका अखबार मेरे लिए खुल गया। उन्होंने अपने अग्रलेखमें घटा-बढ़ी करनेकी स्वतंत्रता भी मुझे दी। हमारे बीच स्नेह स्थापित हुआ। उन्होंने मुझे वचन दिया कि उनसे जितनी मदद बन पड़ेगी, वे करेंगे। उन्होंने अपना यह वचन अक्षरश: पाला और अपनी तबीयत बिगड़ने तक उन्होंने मेरे साथ पत्र-व्यवहार जारी रखा। मेरे जीवनमें ऐसे अनपेक्षित मीठे सम्बन्ध अनेक बंधे हैं। मि० सॉण्डर्सको मेरी जो चीज पसन्द आई, वह थी अतिशयोक्तिका अभाव और सत्य-परायणता। उन्होंने मुझसे उलटी-

सीधी जिरह करनेमें कोई कसर न रखी। इसमें उन्होंने देखा कि दक्षिण अफ्रीकाके गोरोंके पक्षको निष्पक्षतासे पेश करनेमें और उसकी तुलना करनेमें मैंने कोई कसर नहीं रखी थी।

मेरा अनुभव मुझसे कहता है कि प्रतिपक्षीको न्याय देकर हम अपने लिए जल्दी न्याय प्राप्त करते हैं। इस प्रकार अनपेक्षित मदद मिल जानेसे कलकत्तेमें भी सार्वजनिक सभा करनेकी आशा बंधी। इतनेमें डरबनसे एक तार मिला :

"पार्लियामेंट जनवरीमें बैठेगी। जल्दी वापस लौटो।"

इस कारण अखबारोंके लिए एक पत्र लिखकर और फौरन रवाना होनेकी जरूरत बताकर मैंने कलकत्ता छोड़ा।

दादा अब्दुल्लाने स्वयं 'कुरलैंड' नामक एक स्टीमर खरीदा था। उसमें मुझे और मेरे परिवारको मुफ्त ले जानेका उन्होंने आग्रह किया। मैंने आभार-सहित अपनी स्वीकृति दी और दिसम्बरके आरम्भमें अपनी धर्मपत्नी, दो लड़कों और अपने स्वर्गीय बहनोईके एकमात्र लड़केको लेकर मैं 'कुरलैंड' में दूसरी बार दक्षिण अफ्रीकाके लिए रवाना हुआ। इस स्टीमरके साथ ही 'नादरी' नामक दूसरा स्टीमर भी रवाना हुआ। दादा अब्दुल्ला उसके एजेण्ट थे। दोनों स्टीमरोंमें मिलकर लगभग आठ सौ हिन्दुस्तानी मुसाफिर थे। उनमें से आधेसे अधिक लोग ट्रान्सवाल जानेवाले थे।

६ : दक्षिण अफ्रीकामें दूसरी बार

४७. तूफानके आसार

चूंकि हिन्दू घरोंमें छोटी उमरमें ही विवाह हो जाते हैं और चूंकि मध्यम श्रेणीके लोगोंमें अधिकतर पति शिक्षित और पत्नी अशिक्षित होती है, इसलिए पति-पत्नीके जीवनमें काफी अन्तर रहता है और पतिको पत्नीका शिक्षक बनना पड़ता है। मुझे अपनी धर्मपत्नीकी और बालकोंकी पोशाकका, खान-पानका और बोलचालका ध्यान रखना होता था। मुझे उन्हें रहन-सहन सिखानी होती थी। उस समयके कुछ संस्मरण अब भी मुझे हंसाते हैं।

मैं जिन दिनोंकी बात लिख रहा हूं, उन दिनों मैं यह मानता था कि सभ्य लोगोंमें अपनी गिनती करानेके लिए हमारा बाह्याचार जहां तक बने वहां तक यूरोपियनोंसे मिलता हुआ होना चाहिये। ऐसा करनेसे ही लोगों पर प्रभाव पड़ता है और बिना प्रभाव पड़े देशसेवा नहीं हो सकती।

इसलिए पत्नीकी और बालकोंकी पोशाक मैंने ही पसन्द की। जहां यूरोपियन पोशाकका अनुकरण करना बिलकुल अनुचित प्रतीत हुआ वहां पारसी पोशाकका किया। पत्नीके लिए पारसी बहनोंके ढंगकी साड़ियां खरीदीं; बच्चोंके लिए पारसी कोट-पतलून लिये। सबके लिए बूट और मोजे तो जरूरी थे ही। पत्नीको और बालकोंको भी ये दोनों चीजें कई महीनों तक अच्छी न लगीं। लेकिन उन्होंने लाचार होकर पोशाकके इन परिवर्तनोंको स्वीकार किया। इतनी ही लाचारीसे और उससे भी अधिक अनिच्छासे उन्होंने खाते समय छुरी-कांटेका उपयोग शुरू किया। और, जब मेरा मोह नष्ट हुआ तो उन्होंने फिरसे बूट, मोजों और छुरी-कांटे आदिका त्याग किया। जिस प्रकार शुरूके फेरफार दुःखदायी थे, उसी प्रकार आदत पड़नेके बाद उनका त्याग भी दुःखदायी था। लेकिन इस समय मैं देख रहा हूं कि हम सब सभ्यताकी केंचुल उतारकर हलके हो गये हैं।

हमारा स्टीमर दूसरे बन्दरगाहोंमें ठहरे बिना सीधा नाताल पहुंचनेवाला था। इसलिए हमें सिर्फ अठारह दिनकी यात्रा करनी थी। अभी हमारे पहुंचनेमें तीन या चार दिन बाकी थे कि इतनेमें समुद्रमें भयंकर तूफान उठा; मानो मुकाम पर पहुंचते ही जिस भावी तूफानका हमें सामना करना था, उसकी यह एक चेतावनी ही थी। तूफान इतना तेज था और इतनी देर तक रहा कि मुसाफिर घबरा उठे।

दु:खमें सब एक हो गये। सारे भेद भूल गये। हृदयसे ईश्वरको याद करने लगे। हिन्दू-मुसलमान सब साथ मिलकर ईश्वरका स्मरण करने लगे।

इस चिन्तामें कोई चौबीस घंटे बीते होंगे। आखिर बादल बिखरे। सूर्यनारायणने दर्शन दिये। कप्तानने कहा — "तूफान चला गया है।"

लोगोंके चेहरों परसे चिन्ता दूर हुई और उसके साथ ही ईश्वर भी लुप्त हो गया। फिरसे मायाका आवरण चढ़ गया।

लेकिन इस तूफानने मुझे यात्रियोंमें ओतप्रोत कर दिया था। मुझे समुद्र लगता नहीं, चक्कर आते नहीं। इस कारण मैं यात्रियोंके बीच निर्भय होकर घूम सकता था, उन्हें आश्वासन दे सकता था; और कप्तानकी भविष्य-वाणी सुनाता रहता था। यह स्नेह-सम्बन्ध मेरे लिए बहुत उपयोगी सिद्ध हुआ। हमने १८ या १९ दिसम्बरको डरबनकी खाड़ीमें लंगर डाला। 'नादरी' भी उसी दिन पहुंचा।

४८. तूफान

दक्षिण अफ्रीकाके बन्दरगाहोंमें यात्रियोंके आरोग्यकी पूरी जांच की जाती है। अगर रास्तेमें किसीको कोई संक्रामक रोग हुआ हो, तो स्टीमरको सूतकमें — क्वारंटीनमें — रखते हैं। डॉक्टरने जांच-पड़ताल करके हमारी स्टीमरके लिए पांच दिनका सूतक सूचित किया। किन्तु इस सूतकके आदेशका हेतु केवल आरोग्य न था। डरबनके गोरे नागरिक हमें वापस भगा देनेका आन्दोलन कर रहे थे। अतएव उनका यह आन्दोलन भी उक्त आदेशका एक कारण था।

गोरे लगातार जंगी सभायें कर रहे थे। दादा अब्दुल्लाके नाम धमकियां भेज रहे थे। लेकिन वे किसीकी धमकीसे डरनेवाले जीव न थे। हमारे नाम भी धमकियां आईं। मैं यात्रियोंमें खूब घूमा। उनको धीरज बंधाया। बड़े दिनका त्योहार आया। उस अवसर पर कप्तानने पहले दर्जेके मुसाफिरोंको दावत दी। दावतके बाद मैंने पश्चिमकी सभ्यता पर भाषण दिया। लेकिन मेरा दिल तो उस लड़ाईमें लगा हुआ था, जो डरबनमें चल रही थी।

इस हमलेका केन्द्रबिन्दु मैं था। मुझ पर दो आरोप थे:

१. मैंने हिन्दुस्तानमें नातालवासी गोरोंकी अनुचित निन्दा की थी;

२. मैं नातालको हिन्दुस्तानियोंसे भर देना चाहता था।

लेकिन मैं स्वयं बिलकुल निर्दोष था। मैंने किसीको नाताल जानेके लिए ललचाया न था। और मैंने हिन्दुस्तानमें नातालके अंग्रेजोंके बारेमें ऐसा एक भी शब्द नहीं कहा था, जो मैं नातालमें कह न चुका होऊं।

इसलिए मैं पश्चिमी सभ्यताके बारेमें सोचा करता था। मैंने उसे मुख्यतः हिंसक कहा था; और पूर्वकी सभ्यताको अहिंसक बताया था। बहुत करके कप्तानने ही पूछा :

"गोरे जिस तरहकी धमकी दे रहे हैं उसी तरह अगर वे आपको चोट पहुंचाय, तो आप अपने अहिंसक सिद्धान्तोंका अमल किस तरह करेंगे?"

मैंने जवाब दिया — "मुझे आशा है कि उन्हें माफ करनेकी और उन पर मुकदमा न चलानेकी हिम्मत और बुद्धि ईश्वर मुझे देगा। आज भी मेरे मनमें उनके लिए रोष नहीं है। मुझे उनका अज्ञान और उनकी संकुचित दृष्टि देखकर खेद होता है। मैं मानता हूं कि वे जो कह रहे हैं और कर रहे हैं, वह उचित ही है ऐसा वे शुद्ध भावसे समझते हैं। इसलिए मेरे निकट रोषका कोई कारण नहीं रहता।" पूछनेवाला हंसा।

आखिर २३ वें दिन अर्थात् सन् १८९७ के जनवरी महीनेकी १३ वीं तारीखके दिन स्टीमरको मुक्ति मिली और यात्रियोंके लिए उतरनेका हुक्म जारी हुआ।

४९. कसौटी

यात्री उतरे। लेकिन मेरे बारेमें मि० एस्कम्बने, जो उन दिनों मंत्रि-मण्डलमें थे, कप्तानके नाम संदेश भेजा था कि — "गांधीको और उनके परिवारको शामके समय उतारना। उनके विरुद्ध गोरे बहुत उत्तेजित हो गये हैं और उनकी जान जोखिममें है।"

कप्तानने मुझे इस संदेशकी खबर दी। मैंने वैसा करना कबूल किया। लेकिन इस संदेशको मिले अभी आधा घंटा भी न हुआ था कि इतनेमें मि० लॉटन आये और कप्तानसे मिलकर उनसे बोले — "अगर मि० गांधी मेरे साथ चलें, तो मैं उन्हें अपनी जिम्मेदारी पर ले जाना चाहता हूं। स्टीमरके एजेण्टके वकीलके नाते मैं आपसे कहता हूं कि मि० गांधीके बारेमें जो संदेश आपको मिला है उससे आप मुक्त हैं।" फिर वे मेरे पास आये और मुझसे कुछ इस प्रकार बोले : "अगर आपको जिन्दगीका डर न हो, तो मैं चाहता हूं कि मिसेज़ गांधी और बच्चे गाड़ीमें रुस्तमजी सेठके घर जायं और आप तथा मैं सरेआम पैदल रवाना हों। मुझे यह बिलकुल नहीं जंचता कि आप अंधेरा होने पर चुपचाप शहरमें दाखिल हों। अब तो सब कुछ शांत है। गोरे सब तितर-बितर हो गये हैं।"

मैं सहमत हुआ। मेरी धर्मपत्नी और बच्चे गाड़ीमें रुस्तमजी सेठके घर गये और सही-सलामत पहुंचे। मैं कप्तानसे बिदा होकर मि० लॉटनके साथ उतरा। रुस्तमजी सेठका घर करीब दो मील दूर रहा होगा।

जैसे ही हम स्टीमरसे उतरे, कुछ लड़कोंने मुझे पहचान लिया और वे 'गांधी, गांधी' चिल्ला उठे। तुरन्त ही दो-चार लोग इकट्ठा हुए और चिल्लाहट बढ़ी। मि० लॉटनने रिकशा मंगवाया। मुझे तो उसमें बैठना कभी अच्छा न लगता था। यह मेरा पहला ही अनुभव होनेको था। लेकिन लड़के क्योंकर बैठने देते? उन्होंने रिकशावालेको धमकाया। वह भाग खड़ा हुआ।

हम आगे बढ़े। भीड़ बढ़ती गई। भीड़ने मुझे मि० लॉटनसे अलग कर दिया। फिर मुझ पर कंकरों और सड़े अंडोंकी झड़ी लग गई। किसीने मेरी पगड़ी उड़ा दी और लातें शुरू हुईं।

मुझे गश आ गया। मैंने पासके घरकी जाफ़री थामकर सांस ली। वहां खड़े रहनेकी जुगत तो थी ही नहीं। तमाचे पड़ने लगे।

इतनेमें पुलिसके बड़े अधिकारीकी स्त्री, जो मुझे पहचानती थी, उस रास्तेसे गुजरी। मुझे देखते ही वह मेरे पास आकर खड़ी हो गई और उस समय धूप नहीं थी तो भी उसने अपना छाता खोल दिया। इससे भीड़ कुछ नरम पड़ी। अब प्रहार करने हों तो मिसेज़ अलेक्ज़ेन्डरको बचाकर ही किये जा सकते थे।

इस बीच मुझ पर मार पड़ते देखकर कोई हिन्दुस्तानी नौजवान पुलिस-थाने पर दौड़ गया। सुपरिण्टेण्डेण्टने मुझे बचानेके लिए एक दस्ता भेजा। वह समय पर आ पहुंचा। मेरा रास्ता पुलिस-थानेके पाससे ही जाता था। सुपरिण्टेण्डेण्टने मुझे थानेमें आश्रय लेनेकी सलाह दी। मैंने इनकार किया।

दस्तेके साथ रहकर मैं सही-सलामत पारसी रुस्तमजीके घर पहुंचा। मेरी पीठ पर अंधी मार पड़ी थी। सिर्फ एक जगह थोड़ी चोट लगी थी। स्टीमरके डॉक्टर वहीं हाजिर थे। उन्होंने मेरी अच्छी शुश्रूषा की।

यों अन्दर शांति थी, लेकिन बाहर तो गोरोंने घरको घेर लिया था। शाम पड़ चुकी थी। सुपरिण्टेण्डेण्ट वहां पहुंच गये थे और भीड़को विनोद द्वारा वशमें रखनेका यत्न कर रहे थे।

फिर भी वे निश्चिन्त नहीं थे। उन्होंने मेरे पास संदेशा भेजा — "अगर आप अपने मित्रके घर और सम्पत्तिको तथा अपने परिवारको बचाना चाहते हैं, तो आपको मेरी सूचनाके अनुसार इस घरसे छिपे तौर पर भाग जाना चाहिये।"

भागनेके काममें उलझ जानेसे मैं अपने घावोंको भूल गया। मैंने हिन्दुस्तानी सिपाहीकी पोशाक पहनी। साथमें दो डिटेक्टिव (जासूस) थे;

उन्होंने भी अपनी पोशाकका रूप बदला। गलीके नाके पर गाड़ी खड़ी थी। उसमें बैठाकर वे मुझे अब उसी थानेमें ले गये, जहां सुपरिण्टेण्डेण्टने मुझे आश्रय लेनेको कहा था। मैंने सुपरिण्टेण्डेण्ट और खुफिया पुलिसके अधिकारियोंका आभार माना।

इस प्रकार जब एक ओर मुझे ले जाया जा रहा था, तब दूसरी ओर सुपरिण्टेण्डेण्ट भीड़से गीत गवा रहे थे। जब मेरे सही-सलामत थाने पहुंचनेकी खबर उन्हें मिली तब उन्होंने भीड़से कहा — "आपका शिकार तो इस दुकानमें से सही-सलामत निकल भागा है।" भीड़के कुछ लोग गुस्सा हुए, कुछ हंसे। बहुतोंने इस बातको माननेसे इनकार किया।

सुपरिण्टेण्डेण्टकी सूचनासे भीड़ने अपने प्रतिनिधि नियुक्त किये। वे पारसी रुस्तमजीके मकानकी जांच-पड़ताल करके लौटे और भीड़को निराशा-जनक खबर सुनाई। सब कोई सुपरिण्टेण्डेण्टकी समय-सूचकता और चतु-राईकी स्तुति करते हुए, किन्तु मन ही मन कुछ गुस्सा होते हुए, बिखर गये।

मि० चेम्बरलेनने तार भेजकर यह सूचित किया कि मुझ पर हमला करनेवालों पर मुकदमा चलाया जाय और ऐसी व्यवस्था की जाय जिससे मुझे न्याय मिले। मि० एस्कम्बने मुझे अपने पास बुलाया। मुझे जो चोट पहुंची थी उसके लिए उन्होंने खेद प्रकट किया और हमला करनेवालों पर मुकदमा चलानेकी बात कही।

मैंने जवाब दिया — "मुझे किसी पर मुकदमा नहीं चलाना है। हमला करनेवालोंको सजा दिलानेसे मुझे लाभ क्या? मैं तो उन्हें दोषी भी नहीं मानता। दोष तो अधिकारियोंका और अगर आप मुझे कहनेकी इजाजत दें तो आपका माना जायगा। आप लोगोंको ठीक रास्ते ले जा सकते थे। जब सच्ची हकीकत मालूम होगी और लोग जानेंगे तो वे पछतायेंगे।"

"तो क्या आप मुझे यह सब लिखकर देंगे? मुझे मि० चेम्बरलेनको वैसा तार भेजना पड़ेगा। मैं यह नहीं चाहता कि आप जल्दीमें कुछ लिख दें। इतना मैं कबूल करता हूं कि अगर आप हमला करनेवालों पर मुकदमा नहीं चलायेंगे, तो सब कुछ शांत करनेमें मुझे बड़ी मदद मिलेगी और आपकी प्रतिष्ठा तो अवश्य ही बढ़ेगी।"

मैंने जवाब दिया — "इस संबंधमें मेरे विचार स्थिर हो चुके हैं। मेरा यह निश्चय है कि मुझे किसी पर मुकदमा नहीं चलाना है, इसलिए मैं आपको अभी ही लिखकर दे देना चाहता हूं।"

इस प्रकार कहकर मैंने आवश्यक पत्र लिख दिया।

५०. शांति

जिस दिन मैं स्टीमरसे उतरा था, उसी दिन 'नाताल एडवर्टाइज़र' पत्रका प्रतिनिधि मुझसे मिल गया था। उसने वहुतसे प्रश्न पूछे थे और उनके उत्तरमें मैं प्रत्येक आरोपका पूरा-पूरा जवाब दे सका था।

मेरे इस खुलासेका और हमला करनेवालोंके खिलाफ मुकदमा चलानेसे इनकार करनेका इतना अधिक असर पड़ा कि गोरे शरमिंदा हुए। अखबारोंने मुझे निर्दोष बताया और हुल्लड़ मचानेवालोंकी निन्दा की। इस प्रकार परिणाममें मुझे तो लाभ ही हुआ; और मेरा लाभ मेरे कार्यका ही लाभ था। हिन्दुस्तानी कौमकी प्रतिष्ठा बढ़ी और मेरा मार्ग अधिक सरल हुआ। इस घटनाके कारण वकीलके नाते मेरा धंधा भी बढ़ा।

लेकिन इस प्रकार अगर हिन्दुस्तानियोंकी प्रतिष्ठा बढ़ी, तो साथ ही उनके प्रति गोरोंका द्वेष भी बढ़ा। गोरोंको विश्वास हो गया कि हिन्दुस्तानियोंमें दृढ़तापूर्वक लड़नेकी शक्ति है; और इसके साथ ही उनका भय भी बढ़ गया। नातालकी धारासभामें दो कानून पेश हुए, जिनसे हिन्दुस्तानियोंकी मुसीबतें और बढ़ गईं। एकके कारण हिन्दुस्तानी व्यापारियोंके धन्धेको नुकसान पहुंचा, दूसरेके कारण हिन्दुस्तानियोंकी आमद-रफ्त पर कड़ा अंकुश लग गया।

इन कानूनोंने मेरा काम बहुत बढ़ा दिया। झगड़ा आखिर विलायत तक पहुंचा, लेकिन कानून नामंजूर न हुए।

५१. बाल-शिक्षण

जब मैं डरबनमें उतरा उस समय मेरे साथ तीन बालक थे। इन सबको पढ़ाना कहां? गोरोंके लिए जो स्कूल चलते थे, उनमें मैं अपने बच्चोंको भेज सकता था। लेकिन वह सब बतौर मेहरबानी और अपवादके रूपमें ही होता। हिन्दुस्तानी बालकोंको पढ़ानेके लिए ख्रिस्ती मिशनकी पाठशालायें थीं। पर मैं अपने बालकोंको उनमें भेजनेके लिए तैयार न था। वहां दी जानेवाली शिक्षा मुझे पसन्द न थी।

मैं स्वयं बालकोंको पढ़ानेका कुछ प्रयत्न करता था, किन्तु यह अत्यन्त अनियमित था।

मैं परेशान हुआ। मैंने एक ऐसे अंग्रेजी शिक्षकके लिए विज्ञापन दिया, जो मेरी रुचिके अनुसार बच्चोंको शिक्षण दे सके। एक अंग्रेज महिला मिली; उसे रख लिया और इस तरह गाड़ी कुछ आगे बढ़ी।

मैं बालकोंके साथ सिर्फ गुजरातीमें ही बोलता था। उन्हें देश भेज देनेके लिए मैं तैयार न था। उन दिनों भी मुझे ऐसा लगा करता था कि छोटे बच्चोंको माता-पितासे अलग न रहना चाहिये। सुव्यवस्थित घरमें बालकोंको जो शिक्षा सहज ही मिलती है, वह छात्रालयोंमें नहीं मिल सकती। मेरा बड़ा लड़का काफी सयाना होनेके बाद, अपनी इच्छासे, अहमदाबादके हाईस्कूलमें पढ़नेके लिए दक्षिण अफ्रीकासे चला आया था। दूसरे तीन लड़के कभी किसी स्कूलमें गये ही नहीं।

मेरे ये प्रयोग अपूर्ण थे। मैं स्वयं बालकोंको जितना समय देना चाहता था, दे नहीं सका। इस कारणसे और दूसरे अनिवार्य संयोगोंके कारण मैं उन्हें अपनी इच्छानुसार अक्षर-ज्ञान न दे सका। इस मामलेमें मेरे सभी लड़कोंकी, न्यूनाधिक प्रमाणमें, मेरे विरुद्ध शिकायत भी रही है। इतना सब होने पर भी मेरी अपनी राय यह है कि उन्हें जो अनुभव-ज्ञान प्राप्त हुआ है, माता-पिताका जैसा सहवास वे प्राप्त कर सके हैं, स्वतंत्रताका जो पदार्थ-पाठ उन्हें सीखनेको मिला है, वह सब उन्हें न मिलता, यदि मैंने उनको किसी भी स्कूलमें भेजनेका आग्रह रखा होता। वे जैसी सादगी और सेवाभाव सीखे हैं, वैसी सादगी और सेवाभाव वे अपनेमें विकसित न कर सके होते, यदि उन्होंने मुझसे अलग रहकर कृत्रिम शिक्षा पाई होती; उलटे उनकी कृत्रिम रहन-सहन मेरे देशकार्यमें कदाचित् विघ्नरूप ही सिद्ध होती।

इसलिए यद्यपि मैं जितना चाहता था उतना अक्षर-ज्ञान उन्हें नहीं दे सका, तो भी मुझे ऐसा नहीं लगता कि मैंने उनके प्रति अपने धर्मका यथाशक्ति पालन नहीं किया है, और न मुझे इसका कोई पश्चात्ताप ही होता है।

५२. सेवावृत्ति

मेरा धंधा ठीक चल रहा था, किन्तु उससे मुझे सन्तोष न था। मनमें बराबर यह उधेड़-बुन चलती ही रहती थी कि जीवन अधिक सादा होना चाहिये, कुछ-न-कुछ शारीरिक सेवाकार्य होना चाहिये।

इतनेमें एक दिन एक अपंग कोढ़ी, जो गलित कुष्ठसे पीड़ित था, घर आ पहुंचा। उसे खाना देकर विदा कर देनेकी मेरी हिम्मत न पड़ी। उसे मैंने एक कमरेमें टिकाया, उसके घाव साफ किये और उसकी सेवा की।

लेकिन यह काम इस तरह लम्बे समय तक चल नहीं सकता था। उसे हमेशाके लिए घरमें रखनेकी सुविधा न थी, मुझमें हिम्मत भी न थी। मैंने उसे गिरमिटियोंके लिए चलनेवाले सरकारी अस्पतालमें भेज दिया।

लेकिन इससे मुझे तसल्ली न हुई। शुश्रूषाका ऐसा कोई कान मैं हमेशा कर सकूं, तो कितना अच्छा हो! डॉक्टर बूथ सेण्ट एडम्स मिशनके मुख्य अधिकारी थे। वे हमेशा जो भी कोई उनके पास पहुंचता उसे मुफ्त दवा देते थे। पारसी रुस्तमजीके दानके कारण डॉ० बूथकी देखरेखमें एक बहुत छोटा अस्पताल खुला। उसमें दवा देनेके सिलसिलेमें एकसे दो घण्टेका काम रहता था। मैंने इस कामको अपने सिर लेने और अपने समयमें से इतना समय बचानेका निश्चय किया। मेरी वकालतका बहुत-सा काम तो ऑफिसमें बैठकर सलाह देने और दस्तावेज तैयार करनेका अथवा झगड़े मिटानेका होता था। कुछ मुकदमे मजिस्ट्रेटकी अदालतमें रहते थे। उनमें से ज्यादातर तो ऐसे होते थे, जिनमें झगड़ेकी गुंजाइश नहीं होती थी। जब ऐसे मुकदमे होते तो मि० खान, जो उन दिनों मेरे साथ ही रहते थे, उनकी जिम्मेदारी अपने सिर ले लेते थे। इसलिए मैं इस छोटेसे अस्पतालमें काम करने लगा।

रोज सवेरे वहां जाना होता था। जाने-आने और अस्पतालमें काम करनेमें रोज लगभग दो घण्टे लगते थे। इस कामसे मुझे हमेशा शांति मिली। मैं दु:खी भारतवासियोंके गाढ़ संपर्कमें आया।

आगे चलकर यह अनुभव मेरे लिए बहुत उपयोगी सिद्ध हुआ।

बच्चोंकी परवरिशका प्रश्न तो मेरे सामने था ही। दक्षिण अफ्रीकामें मुझे दूसरे दो पुत्र हुए। उनका लालन-पालन करके उन्हें किस तरह बड़ा करना चाहिये, इस प्रश्नको सुलझानेमें मुझे इस कामसे अच्छी मदद मिली। मेरा स्वतंत्र स्वभाव मुझे काफी कसौटी पर चढ़ाता था और आज भी चढ़ाता है। हम दोनों पति-पत्नीने निश्चय किया था कि प्रसूति आदिका काम शास्त्रीय पद्धतिसे करना चाहिये। मैंने बाल-संगोपनका अभ्यास कर लिया। कहा जा सकता है कि अंतिम दो बालकोंका संगोपन, उनकी परवरिश मैंने स्वयं की।

मैंने देखा कि यदि बालकोंका लालन-पालन उचित रीतिसे करना हो, तो माता और पिता दोनोंको बालकोंकी परवरिश आदिका साधारण ज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिये।

५३. ब्रह्मचर्य – १

अब ब्रह्मचर्यके विषयमें विचार करनेका समय आया है। एकपत्नी-व्रतके लिए तो विवाहके समय ही मेरे हृदयमें स्थान था। पत्नीके प्रति वफादार रहना मेरे सत्यव्रतका अंग था। लेकिन अपनी स्त्रीके प्रति भी ब्रह्मचर्यका पालन करनेकी बात दक्षिण अफ्रीकामें ही स्पष्ट रीतिसे मेरे ध्यानमें आई।

मुझे पत्नीके साथ कैसा संबंध रखना चाहिये? पत्नीको विषय-भोगका साधन बनानेमें पत्नीके प्रति वफादारी कहां रहती है? जब तक मैं विषय-वासनाके अधीन रहता हूं, तब तक मेरी वफादारीका मूल्य थोड़ा ही माना जायगा। हमारे आपसके संबंधमें किसी भी दिन पत्नीकी ओरसे मुझ पर आक्रमण नहीं हुआ। इस दृष्टिसे मैं जब चाहता तब ब्रह्मचर्यका पालन मेरे लिए सुलभ था। मेरी अशक्ति अथवा आसक्ति ही मुझे रोक रही थी।

जाग्रत होनेके बाद भी दो बार तो मैं निष्फल ही रहा। प्रयत्न करता था, किन्तु फिसल जाता था। प्रयत्नका मुख्य हेतु ऊंचा न था। मुख्य हेतु संतानोत्पत्तिको रोकनेका था। संतानोत्पत्तिकी अनावश्यकता ध्यानमें आते ही मैंने संयम-पालनका प्रयत्न शुरू किया।

संयम-पालनकी कठिनाइयोंका कोई पार न था। खटियायें अलग डालनी शुरू कीं। रात थकने पर ही सोनेका प्रयत्न किया। इन सारे प्रयत्नोंका विशेष परिणाम मैं तुरन्त नहीं देख सका। किन्तु आज भूतकाल पर दृष्टि-पात करते हुए देखता हूं कि इन सब प्रयत्नोंने मुझे आखिरका बल दिया।

अंतिम निश्चय तो मैं ठेठ १९०६ में ही कर सका। उन दिनों सत्याग्रहका आरंभ नहीं हुआ था। नातालमें जूलू लोगोंका 'विद्रोह' हुआ। मैंने नाताल सरकारको अपनी सेवा अर्पित की। इस सेवाके निमित्तसे मेरे मनमें तीव्र विचार उत्पन्न हुए। अपने स्वभावके अनुसार मैंने इसकी चर्चा अपने साथियोंसे की। मुझे प्रतीत हुआ कि संतानोत्पत्ति और सन्तान-पालन सार्वजनिक सेवाके विरोधी हैं। कड़ी कूचें करते समय मैंने देखा कि मुझे लोकसेवामें ही तन्मय हो जाना है, तो पुत्रैषणा और वित्तैषणाका त्याग और वानप्रस्थ-धर्मका पालन करना चाहिये।

'विद्रोह' के काममें मुझे डेढ़ महीनेसे अधिक समय न देना पड़ा। लेकिन इन छह हफ्तोंका समय मेरे जीवनका अतिशय मूल्यवान समय था। मैंने इन्हीं दिनों व्रतके महत्त्वको अधिकसे अधिक समझा। मैंने देखा कि व्रत बंधन नहीं, बल्कि स्वतंत्रताका द्वार है। आज तक मुझे अपने प्रयत्नोंमें चाहिये उतनी सफलता नहीं मिली थी; क्योंकि मैं निश्चयवान नहीं था। मुझे अपनी शक्तिमें विश्वास न था। ईश्वरकी कृपामें मुझे अविश्वास था और इसके कारण मेरा मन

अनेक तरंगों और अनेक विकारोंके वश होकर काम करता था। मैंने देखा कि व्रतसे न बंधनेसे मनुष्य मोहमें फंसता है। व्रतसे बंधना वैसा ही है जैसा व्यभिचारसे छूटकर एक पत्नीसे संबंध रखना। यह कहना निर्बलताकी निशानी है कि 'मैं प्रयत्न करनेमें मानता हूं, व्रतसे बंधना नहीं चाहता।' और इसमें सूक्ष्म रूपमें भोगकी इच्छा निहित है। जहां अमुक वस्तुके लिए संपूर्ण वैराग्य उत्पन्न हुआ है, वहां उसके लिए व्रत अनिवार्य वस्तु हैं।

५४. ब्रह्मचर्य – २

अच्छी तरह चर्चा करनेके बाद और पक्का विचार करके ही मैंने सन् १९०६ में ब्रह्मचर्य-व्रत लिया। व्रत लेनेके समय तक मैंने धर्मपत्नीसे परामर्श नहीं किया था; किन्तु व्रत लेते समय किया। उसकी ओरसे मेरा कोई विरोध न हुआ।

शुरू-शुरूमें तो यह व्रत मेरे लिए बहुत ही कठिन सिद्ध हुआ। मेरी शक्ति अल्प थी। विकारोंका दमन कैसे हो सकेगा? स्वपत्नीके साथ विकारी सम्बन्धका त्याग एक अनोखी बात मालूम होती थी। फिर भी मैं स्पष्ट रूपसे यह देख सकता था कि यही मेरा कर्त्तव्य है। मेरी भावना शुद्ध थी। यह सोचकर कि ईश्वर शक्ति देगा ही, मैंने निश्चय कर डाला।

आज बीस वर्षके बाद इस व्रतका स्मरण करते हुए मुझे सानन्द आश्चर्य होता है। संयम-पालनकी वृत्ति तो मुझमें सन् १९०१ से ही प्रबल थी, और मैं उसका पालन भी कर रहा था। लेकिन जिस स्वतंत्रता और आनन्दका उपभोग मैं अब करने लगा था, सन् १९०६ से पहले उसका वैसा उपभोग करनेकी बात मुझे याद नहीं पड़ती; क्योंकि उन दिनों मैं वासना-बद्ध था, किसी भी समय उसके वश हो सकता था। अब वासना मुझ पर सवार होनेमें असमर्थ हो गई।

साथ ही, अब मैं ब्रह्मचर्यकी महिमाको अधिकाधिक समझने लगा। व्रत मैंने फीनिक्समें लिया था।

ब्रह्मचर्यके सम्पूर्ण पालनका अर्थ है ब्रह्म-दर्शन। यह ज्ञान मुझे शास्त्र द्वारा नहीं मिला था। मेरे सामने तो यह अर्थ क्रम-क्रमसे अनुभव-सिद्ध होता गया। व्रतके बाद मैं दिनोंदिन इस बातको विशेष रूपसे अनुभव करने लगा कि ब्रह्मचर्यमें शरीर-रक्षण, बुद्धि-रक्षण और आत्माका रक्षण है।

किन्तु कोई यह न माने कि जहां मैं इसमें से रसपान करता था, वहां इसकी कठिनताका कोई अनुभव मुझे न होता था। आज मुझे छप्पन वर्ष पूरे हो चुके हैं, फिर भी इसकी कठिनताका अनुभव तो होता ही है। यह असिधारा-व्रत है। इसके लिए मैं निरन्तर जागृतिकी आवश्यकता देखता हूं।

ब्रह्मचर्यका पालन करना हो तो स्वादेन्द्रिय पर विजय पानी ही चाहिये। यदि स्वाद पर विजय पा ली जाय, तो ब्रह्मचर्य अतिशय सरल है। इस कारण अबसे आगेके मेरे आहार-संबंधी प्रयोग केवल अन्नाहारकी दृष्टिसे नहीं, बल्कि ब्रह्मचर्यकी दृष्टिसे होने लगे। मैंने प्रयोग कर-करके यह अनुभव किया कि खुराक कम, सादी, बिना मसालेकी और कुदरती हालतमें खानी चाहिये। जिन दिनों मैं सूखे और हरे वनपक्व फलों पर ही रहता था, उन दिनों जैसी निर्विकारताका अनुभव हुआ वैसी आहारमें फेरफार करनेके बाद मैं अनुभव न कर सका। फलाहारके दिनोंमें ब्रह्मचर्य सहज था, दुग्धाहार शुरू करनेके बाद वह कष्टसाध्य बन गया है। दूधके समान स्नायु-पोषक और उतनी ही आसानीसे हज़म होनेवाला फलाहार अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ है। इसलिए दूधको विकार पैदा करनेवाली वस्तु मानते हुए भी मैं अभी उसके त्यागकी सलाह किसीको नहीं दे सकता।

बाह्य उपचारोंमें जिस तरह आहारके प्रकार और प्रमाणकी मर्यादा आवश्यक है, उसी प्रकार उपवासका भी है। आहारके बिना इन्द्रियां काम नहीं कर सकतीं। इसलिए इन्द्रिय-दमनके हेतुसे इच्छापूर्वक किये गये उपवास इन्द्रिय-दमनमें बहुत सहायक होते हैं।

उपवासकी सच्ची उपयोगिता वहीं होती है, जहां मनुष्यका मन भी देह-दमनमें साथ देता है। तात्पर्य यह कि मनमें विषय-भोगके प्रति विरक्ति पैदा होनी चाहिए। विषयकी जड़ें मनमें होती हैं। मनुष्य उपवास करते हुए भी विषयासक्त रह सकता है। किन्तु बिना उपवासके विषयासक्तिका समूल नाश संभव नहीं है। इसलिए ब्रह्मचर्य-पालनमें उपवास अनिवार्य अंग है।

ब्रह्मचर्यका प्रयत्न करनेवाले बहुतेरे विफल होते हैं, क्योंकि वे खान-पान और दर्शन आदिमें अब्रह्मचारीकी तरह रहनेकी इच्छा रखकर भी ब्रह्मचर्यका पालन करना चाहते हैं। इस प्रयत्नको उष्ण ऋतुमें शीत ऋतुका अनुभव करनेके प्रयत्न जैसा कहा जा सकता है। संयमीके और स्वैराचारीके, भोगीके और त्यागीके जीवनके बीच भेद होना ही चाहिये। ब्रह्मचर्यका अर्थ है मन, वचन, कायासे सब इन्द्रियोंका संयम। इस संयमके लिए त्यागकी आवश्यकता है। त्यागके क्षेत्रकी कोई सीमा ही नहीं। जब तक विचारों पर इतना प्रभुत्व प्राप्त न हो जाय कि बिना इच्छाके एक भी विचार न आवे, तब तक संपूर्ण ब्रह्मचर्य संभव नहीं। विचारमात्र विकार है। उस पर काबू पानेका मतलब है मन पर काबू पाना। और मनको वशमें करना तो वायुको वशमें करनेसे भी कठिन है। लेकिन मैंने स्वदेश लौटनेके बाद देखा कि इस प्रकारका ब्रह्मचर्य केवल प्रयत्न-साध्य नहीं है। ईश्वरका साक्षात्कार करनेके लिए जो लोग मेरी व्याख्याके ब्रह्मचर्यका पालन करना चाहते

हैं, वे यदि अपने प्रयत्नके साथ ही ईश्वर पर श्रद्धा रखनेवाले हैं, तो उनके लिए निराशाका कोई कारण नहीं है।

अतएव रामनाम और रामकृपा ही आत्मार्थीका अंतिम साधन है, इस बातका साक्षात्कार मैंने हिन्दुस्तानमें ही किया।

५५. सादगी

मैंने भोगोंको भोगना शुरू तो किया, लेकिन वह टिक न सका। घरके लिए साज-सामान जुटाते समय भी मुझे उस पर मोह पैदा हो ही न सका। इसलिए घर बसानेके साथ ही मैंने खर्च कम करना शुरू किया। धोबीका खर्च भी ज्यादा मालूम हुआ। तिस पर चूंकि धोबी नियत समय पर कपड़े नहीं लौटाता था, इसलिए दो-तीन दर्जन कमीजोंसे और उतने ही कॉलरोंसे भी मेरा काम निकलता न था। मुझे यह व्यर्थ प्रतीत हुआ। इसलिए मैंने धोनेका सामान जुटाया। धुलाई-कलाकी पुस्तक पढ़कर कपड़े धोना सीखा; पत्नीको भी सिखाया।

आखिर मैंने धोबीके धंधेमें भी अपने कामके लायक कुशलता प्राप्त कर ली थी; और धोबीकी धुलाईके मुकाबले घरकी धुलाई थोड़ी भी घटिया न होती थी।

जिस तरह मैं धोबीकी गुलामीसे छूटा, उसी तरह नाईकी गुलामीसे छुटनेका भी प्रसंग प्राप्त हुआ। वैसे, विलायत जानेवाले सभी अपने हाथों हजामत बनाना सीखते ही हैं। लेकिन मैं नहीं जानता कि कोई बाल काटना भी सीखते हैं। एक बार प्रिटोरियामें मैं एक अंग्रेज नाईकी दुकान पर पहुंचा। उसने मेरी हजामत बनानेसे कतई इनकार कर दिया और इनकार करते समय जो तिरस्कार प्रगट किया सो अलग। मुझे दुःख हुआ। मैं बाजारमें पहुंचा। बाल काटनेकी मशीन खरीदी और आईनेके सामने खड़े होकर बाल काटे। बाल जैसे-तैसे कटे तो सही; किन्तु पीछेके बाल काटनेमें बड़ी कठिनाई हुई। सीधे तो कट ही न पाये। अदालतमें हंसी हुई।

सच पूछा जाय तो इसमें उस नाईका कोई दोष न था। अगर वह श्यामवर्ण लोगोंके बाल काटता, तो उसकी कमाई हाथसे चली जाती। क्या अपने देशमें हम अस्पृश्योंके बाल उच्च वर्णवाले हिन्दुओंके नाईसे कटाने देते हैं? मुझे दक्षिण अफ्रीकामें इसका बदला एक नहीं अनेक बार मिला है; और चूंकि मैं यह समझता था कि यह हमारे दोषका परिणाम है, इसलिए मुझे इस पर कभी रोष नहीं आया।

स्वावलम्बन और सादगीके मेरे शौकने आगे चलकर तीव्र रूप धारण किया। इस चीजकी जड़ तो शुरूसे मौजूद थी ही। उसके फलने-फूलनेके लिए मात्र सिंचनकी आवश्यकता थी। वह सिंचन अनायास ही मिल गया।

५६. बोअर-युद्ध

बोअर-युद्ध शुरू होनेके समय मेरी सहानुभूति केवल बोअरोंके प्रति थी। लेकिन मैं यह मानता था कि ऐसे मामलोंमें व्यक्तिगत विचारोंके अनुसार काम करनेका अधिकार अभी मुझे प्राप्त नहीं हुआ है। ब्रिटिश राज्यके प्रति मेरे मनमें जो वफादारी थी, वह मुझे बरबस युद्धमें भाग लेनेकी ओर घसीट ले गई। मुझे लगा कि यदि मैं ब्रिटिश प्रजाजनके नाते अधिकार मांग रहा हूं, तो ब्रिटिश प्रजाजनकी हैसियतसे ब्रिटिश राज्यकी रक्षामें हाथ बंटाना भी मेरा धर्म है।

इसलिए जितने साथी मिले उतनोंको ही साथ लेकर और अनेक मुसीबतें सहकर हमने घायलोंकी शुश्रूषा करनेवाली एक टुकड़ी खड़ी की। डॉ० बूथने हमें घायल योद्धाओंकी सार-संभाल करनेकी तालीम दी। हमने सरकारसे प्रार्थना की कि वह हमें लड़ाईमें सेवा करनेका अवसर दे। लेकिन हमें सूचित किया गया कि इस समय हमारी सेवाकी जरूरत नहीं। समय पाकर हमारी मांग स्वीकार की गई।

इस टुकड़ीमें लगभग ११०० आदमी थे। डॉ० बूथ हमारे साथ थे। टुकड़ीने बहुत अच्छा काम किया; यद्यपि उसे गोला-बारूदकी हदके बाहर रहकर काम करना था और रेडक्रॉसका रक्षण प्राप्त था। इसके बावजूद संकटके समय हमें गोला-बारूदकी हदके अन्दर काम करनेका भी मौका मिला था। छः हफ्तोंके बाद हमारी टुकड़ीको विदा कर दिया गया।

उस समय तो हमारे इस छोटेसे कामकी बहुत स्तुति हुई। इसके कारण हिन्दुस्तानियोंकी प्रतिष्ठा बढ़ी। जनरल बूलरने अपने खरीतेमें हमारी टुकड़ीके कामकी तारीफ की। मुखियोंको लड़ाईके पदक भी मिले।

इससे हिन्दुस्तानी कौम अधिक संगठित हुई। मैं गिरमिटवाले हिन्दुस्तानियोंके संपर्कमें बहुत अधिक आ सका। उनमें अधिक जागृति पैदा हुई। यह भावना अधिक दृढ़ हुई कि हम सब हिन्दुस्तानी हैं। सबने माना कि अब हिन्दुस्तानियों पर पड़े हुए दुःख दूर होने ही चाहिये। उस समय तो गोरोंके व्यवहारमें भी स्पष्ट परिवर्तन नजर आया।

लड़ाईमें जिन गोरोंसे काम पड़ा, उनके साथकी याद भी मीठी थी। हम हजारों टॉमियोंके सम्पर्कमें आये। वे हमसे मित्रताका बरताव करते थे। और यह जानकर हमारा आभार मानते थे कि हम वहां उनकी सेवाके लिए आये हैं।

५७. सफाई–आन्दोलन और अकाल-फण्ड

समाजके एक भी अंगका अनुपयोगी रहना मुझे सदा ही अखरा है। जनताके दोष छिपाकर उसका बचाव करना अथवा दोष दूर किये विना ही अधिकार प्राप्त करना मुझे हमेशा अरुचिकर प्रतीत हुआ है। बार-बार यह आरोप किया जाता था कि हिन्दुस्तानके लोग अपने घरबार साफ नहीं रखते और बहुत गन्दे रहते हैं। इस आरोपको मिटानेके लिए शुरूमें कौमके खास-खास लोगोंके घरोंमें तो सुधार आरम्भ हो ही चुके थे। लेकिन घर-घर घूमनेका काम तो तभी शुरू हुआ, जब डरबनमें महामारीके प्रवेशका भय मालूम हुआ। इसमें म्युनिसिपैलिटीके अधिकारियोंका भी हाथ था और उनकी सम्मति भी थी। हमारी मदद मिलनेसे उनका काम हलका हो गया और हिन्दुस्तानियोंको कम मुसीबतें सहनी पड़ीं।

मुझे कुछ कड़वे अनुभव भी हुए। स्थानीय सरकारसे अधिकार मांगनेके काममें मैं कौमके लोगोंकी मदद जितनी आसानीसे ले सकता था, उतनी आसानीसे लोगोंसे उनका फर्ज अदा करानेके काममें मदद नहीं पा सका। कई जगहोंमें अपमान होता और कई जगह विनयपूर्वक लापरवाही दिखाई जाती। गंदगी साफ करनेकी तकलीफ उठाना उन्हें बहुत बुरा मालूम होता था। इस कारण मैं एक सबक अधिक अच्छी तरहसे सीखा और वह यह था कि लोगोंसे कोई भी काम कराना हो तो धीरज रखना चाहिये।

इस आन्दोलनका परिणाम यह हुआ कि हिन्दुस्तानी समाजके लोगोंने घरबार साफ रखनेके महत्त्वको न्यूनाधिक मात्रामें स्वीकार किया। अधिकारी-वर्गके निकट मेरी साख बढ़ी। वे समझ गये कि मेरा धन्धा केवल शिकायतें करने अथवा हक मांगनेका नहीं है, बल्कि फरियाद करनेमें या अधिकारोंकी मांग करनेमें मैं जितनी दृढ़तासे काम लेता हूं, आंतरिक सुधारोंके बारेमें भी मैं उतना ही उत्साही और दृढ़ हूं।

एक और दिशामें भी समाजकी वृत्तिको विकसित करनेका काम बाकी रहा था। इस उपनिवेशमें रहनेवाले हिन्दुस्तानियोंको समय पड़ने पर भारतवर्षके प्रति अपने धर्मको समझने और पालनेकी भी जरूरत थी। भारतवर्ष कंगाल है। लोग धन कमानेके लिए परदेशमें रहना सहन करते हैं। उनकी कमाईका कुछ न कुछ हिस्सा आपत्तिके समय भारतवर्षको मिलना चाहिये। सन् १८९७ में और उसके बाद सन् १८९९ में देशमें अकाल पड़ा। इन दोनों अकालोंके समय दक्षिण अफ्रीकासे अच्छी मदद भेजी गई थी।

इस प्रकार इन दो अकालोंके अवसर पर जो प्रथा शुरू हुई वह आज तक कायम है।

इस तरह दक्षिण अफ्रीकाके हिन्दुस्तानियोंकी सेवा करते-करते मैं स्वयं एकके बाद एक अनेक बातें अनायास सीख रहा था। सत्य एक विशाल वृक्ष है। जैसे-जैसे उसकी सेवा की जाती है, वैसे-वैसे उसमेंसे अनेक फल पैदा होते देखे जाते हैं। उनका कोई अन्त ही नहीं होता। ज्यों-ज्यों उसमें हम गहरे पैठते हैं, त्यों-त्यों उसमें से रत्न मिलते रहते हैं, सेवाके अवसर मिलते रहते हैं।

५८. देश-गमन

लड़ाईके कामसे फुरसत पानेके बाद मुझे लगा कि अब मेरा काम दक्षिण अफ्रीकामें नहीं बल्कि देशमें है। दक्षिण अफ्रीकामें बैठे-बैठे भी मैं कुछ न कुछ सेवा तो अवश्य करता, लेकिन मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि वहां मेरा मुख्य धन्धा पैसा कमाना ही हो जायेगा।

मैंने साथियोंसे मुक्त होनेकी मांग की। बड़ी मुश्किलके बाद मेरी यह मांग एक शर्तके साथ स्वीकार हुई। शर्त यह थी कि अगर कौमको एक सालके अन्दर मेरी जरूरत मालूम पड़े, तो मुझे वापस दक्षिण अफ्रीका आना होगा। यह शर्त मुझे मुश्किल मालूम हुई, किन्तु मैं प्रेमपाशसे बंधा हुआ था :

काचे रे तांतणे मने हरजीए बांधी,
जेम ताणे तेम तेमनी रे;
मने लागी कटारी प्रेमनी.*

मीराबाईकी यह उपमा थोड़े-बहुत अंशोंमें मुझ पर घटित होती थी। पंच भी परमेश्वर ही हैं। मैं मित्रोंकी बातको ठुकरा नहीं सकता था। मैंने वचन दिया और इजाजत पाई।

इस बार मेरा निकट सम्बन्ध नातालके साथ ही रहा था। नातालके हिन्दुस्तानियोंने मुझे प्रेमामृतसे नहला दिया। जगह-जगह मानपत्र देनेके लिए सभाएं हुईं और हरएक जगहसे कीमती भेंटें मिलीं।

जब सन् १८९६ में मैं देशके लिए रवाना हुआ था, तब भी भेंटें मिली थीं। लेकिन इस बारकी भेंटोंसे और सभाओंसे मैं अकुला उठा। भेंटोंमें सोने-चांदीकी वस्तुएं तो थीं ही, लेकिन उनमें हीरेकी वस्तुएं भी थीं।

इन सब वस्तुओंको स्वीकार करनेका मुझे क्या अधिकार हो सकता था? अगर मैं इन्हें स्वीकार करता तो अपने मनको यह कैसे समझा सकता

* मुझे हरिजीने (प्रेमके) कच्चे धागेसे बांध लिया है। वे ज्यों-ज्यों उसे अधिक खींचते हैं, त्यों-त्यों मैं अधिक और अधिक उनकी बनती जाती हूं। मुझे प्रेमकी कटार लगी है।

कि मैं कौमकी सेवा पैसे लेकर नहीं करता? इन भेंटोंमें कुछेक मुवक्किलोंकी भेंटोंको छोड़कर शेष सब मेरी सार्वजनिक सेवासे ही सम्बन्ध रखती थीं। फिर मेरे निकट तो मुवक्किलों और दूसरे साथियोंके बीच कोई भेद न था। खास-खास मुवक्किल सब सार्वजनिक कामोंमें भी मदद देनेवाले थे।

फिर, इन भेंटोंमें ५० गिन्नीका एक हार कस्तूरबाईके लिए था। लेकिन उसे मिली हुई वस्तु भी मेरी सेवासे ही सम्बन्ध रखती थी, इसलिए उसे अलग नहीं रखा जा सकता था।

जिस शामको इन भेंटोंमें से मुख्य-मुख्य भेंटें मिली थीं, वह रात मैंने बावरेकी भांति जागकर बिताई। मैं अपने कमरेमें चक्कर काटता रहा, लेकिन उलझन किसी तरह सुलझती न थी। सैकड़ोंकी भेंटें छोड़ना भारी मालूम पड़ता था; रखना उससे भी अधिक भारी लगता था।

कदाचित् इन भेंटोंको मैं पचा सकूं, लेकिन मेरे बालकोंका क्या हो? स्त्रीका क्या हो? उन्हें शिक्षा तो सेवाकी मिली थी और सेवाके दाम नहीं लेने चाहिये, यह बात उन्हें हमेशा समझाई जाती थी। मैं घरमें कीमती गहने वगैरा रखता न था। सादगी बढ़ती जाती थी। गहनों और जेवरोंका मोह छोड़नेके लिए उन दिनों भी मैं दूसरोंसे कहा करता था। तो अब इन गहनों और जवाहरातोंका मैं क्या करूं?

मैं इस निर्णय पर पहुंचा कि मुझे ये चीजें हरगिज न रखनी चाहिये। पारसी रुस्तमजी आदिको इन गहनोंका ट्रस्टी नियुक्त करके उनके नाम लिखनेके लिए एक पत्रका मसविदा मैंने तैयार किया और निश्चय किया कि सवेरे स्त्री-पुत्रादिसे सलाह करके अपना भार हलका कर लूंगा।

बालक तो तुरन्त समझ गये। मुझे खुशी हुई। वे अपनी मांको समझानेके लिए तैयार हुए। किन्तु यह काम अपेक्षासे अधिक कठिन सिद्ध हुआ। मांके बाण नोकदार थे। उनमें से कुछ चुभते थे। किन्तु गहने तो मुझे वापस लौटाने ही थे। कई मामलोंमें मैं बड़ी कठिनाईसे कस्तूरबाकी सम्मति प्राप्त कर सका। सन् १८९६ और सन् १९०१ में मिली हुई भेंटें मैंने लौटा दीं। उनका ट्रस्ट बना और उनका उपयोग मेरी अथवा ट्रस्टियोंकी इच्छाके अनुसार सार्वजनिक कामके लिए करनेकी शर्त पर वे बैंकमें रखी गईं।

अपने इस कदमके लिए मुझे कभी पश्चात्ताप नहीं हुआ। समय बीतने पर कस्तूरबाको भी इसका औचित्य जंच गया। इससे हम अनेक लालचोंमें से बच गये हैं।

मेरी यह राय बनी है कि सार्वजनिक सेवकके लिए निजी भेंटें या उपहार वर्ज्य हैं।

७ : देशमें निवास

५९. कलकत्तेमें

यों मैं देश जानेके लिए बिदा हुआ।

हिन्दुस्तान पहुंचनेके बाद थोड़ा समय घूमने-फिरनेमें बिताया। यह सन् १९०१ का साल था। उस साल कांग्रेसका अधिवेशन कलकत्तेमें होनेवाला था। दीनशा एदलजी वाच्छा सभापति थे। मुझे कांग्रेसमें तो जाना ही था। कांग्रेसका मेरा यह पहला अनुभव था।

बम्बईसे जिस ट्रेनमें सर फीरोजशाह रवाना हुए उसी ट्रेनमें मैं भी गया था। मुझे उनके डिब्बेमें एक स्टेशन तक जानेकी आज्ञा मिली थी। उसके अनुसार मैं गया। वे बोले: "गांधी, आपका काम बनेगा नहीं। आप जैसा कहेंगे वैसा प्रस्ताव तो हम पास कर देंगे, लेकिन अपने देशमें ही हमें कौनसे हक मिलते हैं? जहां तक अपने देशमें हमें सत्ता प्राप्त नहीं होती, वहां तक उपनिवेशोंमें आपकी स्थिति सुधर नहीं सकती।"

मैं तो दंग ही रह गया, किन्तु मैंने यह सोचकर सन्तोष किया कि मुझे कांग्रेसमें प्रस्ताव पेश करने देंगे।

कलकत्तेमें एक स्वयंसेवक मुझे रिपन कॉलेज ले गया। वहां कई प्रतिनिधियोंको ठहराया गया था, किन्तु व्यवस्थाका अभाव था।

कांग्रेसके अधिवेशनको एक-दो दिनकी देर थी। मैंने निश्चय किया था कि अगर कांग्रेसके कार्यालयमें मेरी सेवा स्वीकार की जाय, तो मुझे सेवा करना और अनुभव लेना चाहिये।

जिस दिन हम पहुंचे उसी दिन मैं नहा-धोकर कांग्रेसके कार्यालयमें गया। श्री भूपेन्द्रनाथ बसु और श्री घोषाल मंत्री थे। मैं भूपेन्द्रबाबूके पास पहुंचा। उन्होंने मुझे घोषालबाबूकी तरफ भेजा। मैं उनके पास गया। उन्होंने मुझे ध्यानसे देखा। जरा हंसे और पूछा:

"मेरे पास तो कारकुनका काम है। आप करेंगे?"

मैंने जवाब दिया: "जरूर करूंगा।"

घोषालबाबूने मुझे पत्रोंका एक ढेर निपटानेके लिए सौंप दिया। मैं तो इस विश्वाससे खुश-खुश हो गया।

मैंने पत्रोंके उस ढेरको तुरन्त निपटा दिया। घोषालबाबू खुश हुए। मेरा इतिहास जाननेके बाद तो मुझे कारकुनका काम सौंपनेके कारण उन्हें थोड़ी शर्म मालूम हुई। मैंने उन्हें निश्चिन्त किया। हमारे बीच काफी अच्छा सम्बन्ध हो गया। कुछ दिनोंमें ही मुझे कांग्रेसके प्रबन्धका पता चल गया। बहुतसे नेताओंका परिचय हुआ। मैं उनकी रीति-नीतिको देख सका। समयकी जो बरबादी होती थी, उसका दर्शन भी मैंने किया। अंग्रेजी भाषाका प्राबल्य भी देखा, जिससे उस समय भी मुझे दुःख हुआ था। मैंने यह भी देखा कि जो काम एकसे हो सकता था उसमें एकसे अधिक लोग लग जाते थे; और कुछ महत्त्वके काम ऐसे रह जाते थे, जिन्हें कोई भी करता न था।

मेरा मन इस सारी स्थितिकी टीका करता रहता था। किन्तु चित्त उदार था, इसलिए मैं यह मान लेता था कि जो हो रहा है, उसमें अधिक सुधार सम्भव न होगा। और फलतः मेरे मनमें किसीके प्रति अरुचि उत्पन्न न होती थी।

६०. कांग्रेसमें

कांग्रेसका अधिवेशन शुरू हुआ। मंडपका भव्य दृश्य, स्वयंसेवकोंकी कतारें, मंच पर बुजुर्गोंकी बैठक आदि देखकर मैं घबराया।

सभापतिके भाषणके कुछ-कुछ भाग पढ़े गये। विषय-विचारिणी समितिके सदस्योंका चुनाव हुआ। गोखले उसमें मुझे ले गये थे। समितिमें एकके बाद एक प्रस्ताव पास होते गये। मैंने गोखलेको अपने प्रस्तावकी याद दिलाई। वह उनके ध्यानमें था ही। दूसरा काम समाप्त होने पर उन्होंने उस प्रस्तावको याद किया। उसे वे देख चुके थे, इसलिए मुझे पेश करनेकी इजाजत मिली। मैंने कांपते स्वरमें उसे पढ़ सुनाया। गोखलेने उसका समर्थन किया। सब एकस्वरसे कह उठे — "सर्व-सम्मतिसे पास।" और वाच्छाने कहा — "गांधी, आप पांच मिनटका समय लेना।"

इस दृश्यसे मैं खुश न हुआ।

कांग्रेसमें लिखा हुआ भाषण न पढ़नेका मेरा निश्चय था। लेकिन दक्षिण अफ्रीकामें भाषण करनेकी जो हिम्मत आई थी, उसे मैं यहां खो बैठा था।

जब मेरे प्रस्तावका समय आया, तो सभापतिने मेरा नाम पुकारा।

मैं खड़ा हुआ। सिरमें चक्कर आने लगे। जैसे-तैसे प्रस्ताव पढ़ा। मैंने दक्षिण अफ्रीकाके दुःखोंकी कुछ बातें कहीं। इतनेमें सभापतिकी घण्टी बजी। मैंने अभी अपने पांच मिनट पूरे नहीं किये थे। मैं जानता न था कि

यह घण्टी तो मुझे चेतावनी देनेके लिए दो मिनट पहले ही बजाई गई थी। मुझे दुःख तो हुआ। पर घण्टी बज चुकी थी, इसलिए मैं बैठ ही गया।

प्रस्तावोंका विरोध करने जैसा था ही नहीं। सभी हाथ उठाते थे। सारे प्रस्ताव सर्व-सम्मतिसे स्वीकृत होते थे। मेरे प्रस्तावका भी यही हाल हुआ। इसलिए मुझे अपने प्रस्तावके पास होनेका कोई महत्त्व मालूम न हुआ, फिर भी कांग्रेसमें प्रस्ताव पास होनेकी बात ही मेरे आनन्दके लिए पर्याप्त थी।

६१. गोखलेके साथ

कांग्रेस समाप्त हुई, किन्तु मुझे तो दक्षिण अफ्रीकाके कामके सिलसिलेमें कलकत्तेमें रहकर चेम्बर ऑफ कॉमर्स आदि मण्डलोंसे मिलना था। इसलिए मैं कलकत्तेमें एक महीना रहा। मैंने इण्डिया-क्लबमें रहनेका प्रबन्ध किया। गोखले इस क्लबमें समय-समय पर बिलियर्ड खेलने आते रहते थे। जैसे ही उन्हें पता चला कि मैं कलकत्ते ठहरनेवाला हूं, उन्होंने मुझे अपने साथ रहनेके लिए आमंत्रित किया। मैंने उनका आमंत्रण साभार स्वीकारा। लेकिन मुझे खुद ही वहां जाना ठीक न मालूम हुआ। एक-दो दिन राह देखी, इतनेमें गोखले खुद ही आकर मुझे अपने साथ ले गये।

पहले दिन ही गोखलेने मुझे यह माननेका मौका न दिया कि मैं उनका मेहमान हूं। उन्होंने मुझे अपने छोटे सगे भाईकी तरह रखा। मेरी सब आवश्यकताएं समझ लीं और उनके अनुकूल सारी व्यवस्था कर दी। सौभाग्यसे मेरी आवश्यकताएं कम थीं। सब कुछ स्वयं ही करनेकी आदत मैं डाल चुका था, इसलिए मुझे बहुत ही कम सेवा लेनी पड़ती थी। स्वावलम्बनकी मेरी इस आदतकी, उस समयकी मेरी पोशाक आदिकी सुघड़ताकी, मेरे उद्यमकी और मेरी नियमितताकी उन पर गहरी छाप पड़ी और वे इस सबकी इतनी स्तुति करने लगे कि मैं घबरा उठा।

मुझे कभी ऐसा भास नहीं हुआ कि उनकी कोई बात मुझसे छिपी हो। जो भी कोई बड़े आदमी उनसे मिलने आते, उनके साथ वे मेरा परिचय करा देते।

गोखलेकी काम करनेकी पद्धतिसे मुझे जितना आनन्द हुआ उतना ही सीखनेको भी मिला। वे अपना एक क्षण भी व्यर्थ न जाने देते थे। मैंने अनुभवसे देखा कि उनके सारे सम्बन्ध देशकार्यके निमित्तसे ही थे। सारी चर्चा भी देशकार्यके खातिर ही होती थी। बातचीतमें मैंने कहीं मलिनता, दम्भ अथवा झूठके दर्शन न किये।

गोखले घोड़ागाड़ी रखते थे। मैंने उनसे इसकी शिकायत की। मैं उनकी मुश्किलोंको समझ नहीं सका था। "आप सब जगह ट्राममें क्यों नहीं जा सकते? क्या इससे नेतावर्गकी प्रतिष्ठा कम होती है?"

थोड़े दुःखी होकर उन्होंने मुझे जवाब दिया—"तो आप भी मुझे समझ नहीं सके? मुझे बड़ी धारासभासे जो भी मिलता है, उसे मैं अपने लिए खर्च नहीं करता। जब आपको मेरे समान ही बड़ी संख्यामें लोग पहचानने लगेंगे, तब आपके लिए भी ट्राममें घूमना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य हो जायगा। यह मान लेनेकी कोई वजह नहीं है कि नेता लोग जो कुछ करते हैं, सो मौज-शौकके लिए ही करते हैं। आपकी सादगी मुझे पसन्द है। मैं भरसक सादगीसे रहता हूं। किन्तु आप निश्चय मानिये कि मेरे जैसोंके लिए कुछेक खर्च अनिवार्य हैं।"

इस प्रकार मेरी एक शिकायत तो बराबर रद्द हुई। लेकिन दूसरी जो शिकायत मुझे पेश करनी थी, उसका वे कोई सन्तोषजनक जवाब नहीं दे सके।

मैंने कहा—"लेकिन आप तो ठीकसे घूमने भी नहीं जाते। फिर अगर आप बीमार रहते हैं, तो इसमें आश्चर्य क्या? क्या देशकार्यनें से आप व्यायामके लिए भी फुरसत नहीं निकाल सकते?"

जवाब मिला—"आप मुझे किस समय फुरसतमें पाते हैं, जब मैं घूमने जा सकूं?"

मेरे मनमें गोखलेके प्रति इतना आदर था कि मैं उन्हें प्रत्युत्तर नहीं देता था। उनके उक्त उत्तरसे मुझे संतोष न हुआ। किन्तु मैं चुप रहा। कैसा भी काम क्यों न हो, जिस तरह हम खानेके लिए समय निकालते हैं, उसी तरह व्यायामके लिए भी निकालना चाहिये। मेरी यह नम्र राय है कि ऐसा करनेसे देशकी सेवा अधिक ही होती है, कम नहीं।

गोखलेकी छायामें रहनेसे बंगालमें मेरा काम सरल हो गया। बंगालके अग्रगण्य परिवारोंका मुझे सहज ही परिचय मिला और बंगालके साथ मेरा निकटका संबंध बन गया। मैं कुछ दिनके लिए ब्रह्मदेश भी हो आया। वहांसे लौटनेके बाद मैं गोखलेसे बिदा हुआ। उनका बिछोह मुझे खला, लेकिन बंगालका अथवा सच पूछो तो कलकत्तेका मेरा काम समाप्त हो चुका था।

अपने धंधेमें पड़नेसे पहले मेरा विचार तीसरे दर्जेमें हिन्दुस्तानकी एक संक्षिप्त यात्रा करने और तीसरे दर्जेके यात्रियोंके परिचयमें आकर उनके दुःखोंको समझ लेनेका था। मैंने अपना यह विचार गोखलेके सामने रखा। शुरूमें तो उन्होंने इसे हंसीमें टाल दिया, किन्तु जब मैंने अपनी आशाओंका वर्णन किया, तो उन्होंने खुशी-खुशी मेरी योजनाको मान लिया।

इस यात्राके लिए मुझे नया सामान खरीदना था। पीतलका एक डिब्बा गोखलेने ही दिया और उसमें मेरे लिए बेसनके लड्डू और पूरियां रखवाईं। पटसनका एक बैग खरीदा। छाया (पोरबन्दरके पासका एक गांव) की ऊनका एक कोट बनाया था। बैगमें वह कोट, तौलिया, कुरता और धोती रख ली थी। ओढ़नेके लिए एक कम्बल था। इसके अलावा एक लोटा साथमें रखा था। इतना सामान लेकर मैं रवाना हुआ।

गोखले और डॉ० प्रफुल्लचन्द्र राय मुझे स्टेशन तक बिदा करने आये। मैंने दोनोंसे न आनेकी बिनती की, किन्तु दोनोंने आनेका अपना आग्रह कायम रखा। गोखलेने कहा — "अगर आप पहले दर्जेमें जाते, तो शायद मैं न चलता। लेकिन अब तो मुझे चलना ही है।"

६२. बम्बईमें

गोखलेकी बड़ी इच्छा थी कि मैं बम्बईमें स्थिर हो जाऊं, वहां बैरिस्टरका धन्धा करूं और उनके साथ सार्वजनिक काममें हाथ बंटाऊं।

मेरी अपनी भी यही इच्छा थी। किन्तु धन्धा मिलनेके बारेमें मुझे आत्म-विश्वास न था। पुराने अनुभवोंकी याद भूली न थी। खुशामद करना जहर-जैसा लगता था।

इसलिए पहले तो मैं राजकोटमें ही रहा। केवलराम मावजी दवेने मेरे हाथमें तीन केस दिये। उनमें दो अपीलें थीं और एक असल केस था। असल केसमें कामयाबी हुई, और दो अपीलोंके बारेमें तो मुझे शुरूसे ही कोई अन्देशा न था। इसलिए कुछ ऐसा लगा कि बम्बई जाने पर भी वहां कोई मुश्किल पेश न होगी। फिर भी मैं तो कुछ समय तक राजकोटमें ही रहनेकी बात सोच रहा था। इतनेमें एक दिन केवलराम मेरे पास आये और बोले — "गांधी, हम आपको यहां नहीं रहने देंगे। आपको तो बम्बई ही जाना होगा।"

"लेकिन वहां तो कोई मेरा हाल तक न पूछेगा। क्या मेरा खर्च आप चलायेंगे?"

"हां, हां, मैं आपका खर्च चलाऊंगा। बड़े बैरिस्टरकी तरह हम लोग कभी-कभी आपको यहां ले आया करेंगे और लिखने-पढ़नेका जो काम होगा सो आपको वहां भेजते रहेंगे। बैरिस्टरोंको बड़ा या छोटा बनाना तो हम वकीलोंका काम है न? अपनी योग्यताका प्रमाण तो आप जामनगर और वेरावलमें

दे ही चुके हैं, इसलिए मैं बेफिकर हूं। आप जिस सार्वजनिक कामके लिए पैदा हुए हैं, उसे हम काठियावाड़में दफन नहीं होने देंगे। कहिये, कब जायेंगे?"

"नातालसे मेरे कुछ पैसे आने बाकी हैं, वे आ जायं तो जाऊं।"

पैसे दो-एक हफ्तेमें आ गये और मैं बम्बई गया। पेइन, गिलबर्ट और सयानीके ऑफिसमें 'चेम्बर्स' किरायेसे लिये। और ऐसा लगा कि मैं स्थिर हो गया हूं।

६३. धर्म-संकट

ऑफिसकी तरह ही मैंने गिरगांवमें घर किरायेसे लिया, लेकिन ईश्वरने मुझे स्थिर न होने दिया। घर लिये अभी बहुत दिन नहीं हुए थे कि इतनेमें मेरा दूसरा लड़का एक सख्त बीमारीकी चपेटमें आ गया।

मैंने डॉक्टरकी सलाह ली। डॉक्टरने कहा—"इसके लिए दवा कोई काम न करेगी। इसे तो अण्डे और मुर्गीका शोरवा देनेकी जरूरत है।"

मणिलालकी उमर दस वर्षकी थी। मैं उसे क्या पूछता? उसका अभिभावक तो मैं था। निर्णय मुझे ही करना था। डॉक्टर एक बहुत भले पारसी थे। "डॉक्टर, हम सब तो अन्नाहारी हैं। मैं अपने लड़केको इन दोमें से एक भी वस्तु देना नहीं चाहता। आप दूसरा कोई उपाय न बतायेंगे?" मैंने कहा।

डॉक्टर बोले—"आपके लड़केकी जान खतरेमें है। दूध और पानी मिलाकर दिया जा सकता है, किन्तु उससे पूरा पोषण न मिल सकेगा। आप जानते हैं कि मैं तो बहुतेरे हिन्दू परिवारोंमें जाता हूं। लेकिन दवाके नाम पर मैं जो भी वस्तु उन्हें दूं, वे ले लेते हैं।"

"आप सच कह रहे हैं। आपको यही कहना भी चाहिये। मेरी जिम्मेदारी बहुत बड़ी है। लड़का बड़ा और सयाना होता तो मैं अवश्य ही उसकी इच्छा जाननेका प्रयत्न करता और वह जो चाहता सो करने देता। किन्तु आज तो मुझे ही इस बालकके लिए सोचना है। मुझे लगता है कि मनुष्यके धर्मकी कसौटी ऐसे ही समय होती है। खरा हो या खोटा, मैंने अपना यह धर्म माना है कि मनुष्यको मांसादि न खाना चाहिये। जीवनके साधनोंकी भी हद होती है। कुछ बातें ऐसी हैं जो हमें जीनेके लिए भी नहीं करनी चाहिये। ऐसे समय मेरे धर्मकी मर्यादा मुझे अपने लिए और अपनोंके लिए भी मांस इत्यादिका उपयोग करनेसे रोकती है। इसलिए आप जिस खतरेकी बात कहते हैं वह खतरा मुझे उठाना ही होगा।"

डॉक्टर भले थे। वे मेरी कठिनाईको समझ गए और उन्होंने मेरी मांगके मुताबिक मणिलालको देखनेके लिए आना कबूल किया।

मैं क्यूनेके उपचार जानता था। मैंने उनके प्रयोग भी किये थे। यह भी जानता था कि बीमारीमें उपवासका बड़ा स्थान है। मैंने मणिलालको क्यूनेके ढंग पर कटिस्नान कराना शुरू किया।

बुखार उतरता न था। रातमें वह कुछ-का-कुछ बकता था। मैं घबराया। कहीं बालकको खो बैठा, तो दुनिया मुझे क्या कहेगी? बड़े भाई क्या कहेंगे? दूसरे डॉक्टरोंको क्यों नहीं बुलाया जाय? वैद्यको क्यों न बुलाया जाय? मां-बापको क्या अधिकार है कि वे अपनी ज्ञानहीन अक्ल बच्चों पर चलायें?

इस तरहके विचार आते थे। साथ ही ये विचार भी आते: 'प्राणी, जो तू अपने लिए करता है वही लड़केके लिए करेगा, तो परमेश्वर संतुष्ट रहेगा। तुझे जलके उपचारमें श्रद्धा है, दवामें नहीं। डॉक्टर प्राणदान नहीं देता। उसके भी प्रयोग ही चलते हैं। जीवनकी डोरी तो एक ईश्वरके ही हाथमें है। ईश्वरका नाम लेकर, उस पर श्रद्धा रखकर तू अपना मार्ग न छोड़।' इस प्रकार मनमें उधेड़-बुन चल रही थी। रात पड़ी। मैंने मणिलालको गीली, निचोड़ी हुई चादरमें लपेटनेका निश्चय किया। मैं उठा। चादर ली। ठंडे पानीमें डुबोई, निचोई। उसमें उसे सिरसे पैर तक लपेटा। ऊपरसे दो कम्बल ओढ़ा दिये। सिर पर गीला तौलिया रखा। शरीर तवेकी तरह तप रहा था। पसीना आता ही न था।

मैं बहुत थक चुका था। मणिलालको उसकी मांके सुपुर्द करके मैं आधे घंटेके लिए थोड़ी हवा खाने, ताजा होने, शांति पानेके विचारसे चौपाटी पर गया। रातके कोई दस बजे होंगे। लोगोंका आना-जाना कम हो चुका था। मुझे बहुत थोड़ा होश था। मैं विचार-सागरमें डुबकी लगा रहा था। हे ईश्वर, इस धर्म-संकटमें तू मेरी लाज रखना। मुंहसे 'राम-राम' का रटन तो जारी ही था। कुछ देर इधर-उधर टहलकर मैं धड़कती छाती लिये वापस लौटा।

जब मैं घर पहुंचा तो मणिलालको पसीना आ रहा था। बुखार उतर रहा था। मैंने ईश्वरका आभार माना।

सुबह मणिलालका बुखार हलका मालूम हुआ। दूध और पानी तथा फल पर वह चालीस दिन रहा। मैं निर्भय हो चुका था। बुखार हठीला था, किन्तु काबूमें आ चुका था। आज मेरे सब लड़कोंमें मणिलाल सबसे अधिक सुदृढ़ शरीरवाला है।

इस बातका निराकरण कौन कर सकता है कि यह रामकी बख्शिश है या जलके उपचारकी? अल्पाहारकी है या सार-संभालकी? मैंने यह समझा कि ईश्वरने मेरी लाज रख ली, और मैं आज भी यही मानता हूं।

६४. पुनः दक्षिण अफ्रीका

मणिलाल स्वस्थ तो हुआ, किन्तु मैंने देखा कि गिरगांववाला मकान रहने लायक नहीं था। उसमें नमी थी, पूरा उजेला नहीं था। अतएव रेवाशंकर वैद्यसे सलाह करके हम दोनोंने बम्बईके किसी उपनगरमें खुली जगहवाला बंगला लेनेका निश्चय किया। सान्ताक्रूजमें एक सुन्दर बंगला मिल गया और हम उसमें रहने गये। ऐसा प्रतीत हुआ कि आरोग्यकी दृष्टिसे अब हम सुरक्षित हैं। मैंने चर्चगेट जानेके लिए पहले दर्जेका पास निकलवाया। पहले दर्जेमें अक्सर मैं अकेला ही रहता, इससे मनमें कुछ अभिमानका भी अनुभव करता था। बहुत दफा बांदरासे चर्चगेट जानेवाली ख़ास गाड़ी पकड़नेके लिए मैं सान्ताक्रूजसे बांदरा तक पैदल ही जाता था।

आर्थिक दृष्टिसे मेरा धंधा अपेक्षासे कुछ अधिक ठीक चलने लगा। दक्षिण अफ्रीकाके मुवक्किल मुझे कुछ-न-कुछ काम सौंपा करते थे। मुझे ऐसा लगा कि इससे मेरा खर्च आसानीके साथ निकलता रहेगा। हाईकोर्टका काम मुझे अभी तक कुछ मिलता न था। हाईकोर्टमें दूसरे नये बैरिस्टरोंकी तरह मैं भी केस सुननेके लिए जाता था। वहां जो कुछ जाननेको मिलता था, उसकी अपेक्षा समुद्रकी फरफराती हुई हवामें झोंके खानेका आनन्द अधिक मिलता था। मैंने देखा कि वहां इस तरह झोंके खाना 'फैशन' माना जाता था।

गोखलेकी आंख तो मुझ पर लगी ही रहती थी। हफ्तेमें दो-तीन बार चेम्बरमें आकर वे मेरी कुशलता पूछ जाते थे। और कभी-कभी अपने खास मित्रोंको भी साथ ले आते थे। अपनी कार्य-पद्धतिसे वे मुझे परिचित करते रहते थे। किन्तु मेरे भविष्यके बारेमें यह कहना ठीक होगा कि ईश्वरने मेरा चाहा कभी कुछ होने ही न दिया।

ज्यों ही मैंने स्थिर होनेका निश्चय किया और स्थिरताका अनुभव किया, त्यों ही अचानक दक्षिण अफ्रीकासे तार आया—"चेम्बरलेन यहां आ रहे हैं, आपको आना चाहिये।" मुझे अपना वचन याद था ही। मैंने तार दिया—"मेरा खर्च भेजिये। आनेको तैयार हूं।" उन्होंने तुरन्त पैसे भेजे और मैं दफ्तर समेटकर रवाना हुआ।

मैंने सोचा था कि मुझे एकाध साल तो वहां सहज ही लग जायगा। बंगला चालू रखा और यह भी इष्ट समझा कि बाल-बच्चे उसीमें रहें।

उन दिनों मैं मानता था कि जो नौजवान देशमें कमाते नहीं और साहसी हैं, उनके लिए परदेश निकल जाना अच्छा है। इस विचारसे मैं चार-पांचको अपने साथ ले गया, जिनमें एक मगनलाल गांधी भी थे।

बाल-बच्चोंका बिछोह, बसा-बसाया घर तोड़ना, निश्चित वस्तुमें से अनिश्चित वस्तुमें प्रवेश——यह सब क्षणभरके लिए अखरा। किन्तु मैं तो अनिश्चित जीवनका आदी हो चुका था। इस संसारमें, जहां ईश्वरके या सत्यके सिवा और कुछ भी निश्चित नहीं है, निश्चितताका विचार करना ही दोषमय प्रतीत होता है।

हमारे आसपास यह जो कुछ दीखता है और होता है, सो सब अनिश्चित है, क्षणिक है; उसमें निश्चित रूपसे जो एक परम तत्त्व छिपा हुआ है, उसकी तनिक-सी झांकी हो, उस पर श्रद्धा बनी रहे, इसीमें जीवनकी सार्थकता है। उस तत्त्वकी खोजमें ही परम पुरुषार्थ है।

यह नहीं कहा जा सकता कि मैं डरबन एक दिन भी पहले पहुंचा था। मेरे लिए वहां काम तैयार ही था। मि० चेम्बरलेनके पास डेप्युटेशनके जानेकी तारीख निश्चित हो चुकी थी। मुझे उनके समक्ष पढ़नेके लिए एक प्रार्थना-पत्र तैयार करना था और डेप्युटेशनके साथ जाना था।

८ : दक्षिण अफ्रीकामें तीसरी बार

६५. नातालमें

मि० चेम्बरलेन दक्षिण अफ्रीकासे साढ़े तीन करोड़ पौंड लेने आये थे। वे अंग्रेजोंका और संभव हो तो बोअरोंका मन हरण करने आये थे। इस कारण हिन्दुस्तानी प्रतिनिधियोंको सूखा जवाब मिला :

"आप जानते हैं कि जिम्मेदार उपनिवेशों पर बड़ी सरकारका अंकुश नाममात्रका ही है। आपकी शिकायत सच्ची मालूम होती है। मैं अपनी शक्तिभर यत्न करूंगा। लेकिन आपको, जिस तरह आपसे बन पड़े उस तरह, यहांके गोरोंको राजी रखकर रहना है।"

प्रतिनिधि यह उत्तर सुनकर ठंडे पड़ गये। मैंने आशा छोड़ दी। मुझे ऐसा लगा कि 'जब जागे तभी सवेरा' समझकर फिरसे ककहरा घोंटना होगा। साथियोंको यह समझाया।

मि० चेम्बरलेन ट्रान्सवालके लिए रवाना हुए। मुझे वहांका केस तैयार करके उनके सामने पेश करना था। प्रिटोरिया किस तरह पहुंचा जाय?

लड़ाईके बाद ट्रान्सवाल वीरान-सा हो गया था। खाने-पीनेको अनाज न था; पहनने-ओढ़नेको कपड़े न थे। जैसे-जैसे माल इकट्ठा होता जाता था, वैसे-वैसे ही घरबार छोड़कर भागे हुए लोगोंको वापस आने दिया जाता था। इसके कारण हरएक ट्रान्सवालवासीको पास लेना पड़ता था। गोरोंको तो यह पास मांगते ही मिल जाता था, हिन्दुस्तानियोंके लिए मुश्किल थी।

जिस समय मैं वहां पहुंचा, एशियाइयोंके लिए एक नया विभाग खुल चुका था। वह धीमे-धीमे अपना जाल फैला रहा था। हिन्दुस्तानी आदमी इस विभागके नाम अर्जी भेजता। फिर कई दिनों बाद उसे जवाब मिलता। ट्रान्सवाल जानेके इच्छुक बहुतेरे थे। अतएव उनके लिए दलाल खड़े हो गये। इन दलालों और अफसरोंके बीच गरीब हिन्दुस्तानियोंके हजारों रुपये लुट गये। मुझसे कहा गया था कि बिना वसीलेके परवानेकी इजाजत मिलती ही नहीं और कभी-कभी तो वसीलेके रहते हुए भी फी आदमी १००-१०० पौंड तक खर्च होता है। इसमें मेरा पता कहां लगता?

मैं अपने पुराने मित्र डरबनके पुलिस सुपरिण्टेण्डेण्टके पास पहुंचा। उन्होंने मेरे नाम परवाना दिला दिया। मैं प्रिटोरियाके लिए रवाना हुआ।

प्रिटोरिया पहुंचा। अर्जी तैयार की। यहां प्रतिनिधियोंके नाम पहलेसे पूछे गये। प्रिटोरियाके हिन्दुस्तानियोंको पता चल गया था कि इसमें हेतु मुझे अलग रखनेका है।

६६. ट्रान्सवालमें

नये विभागके अधिकारी समझ न सके कि मैं ट्रान्सवालमें दाखिल किस तरह हुआ। शांतिरक्षाका कानून यह था कि जो बिना परवानेके दाखिल हो, उसे गिरफ्तार किया जाय और कैदकी सजा दी जाय। इस धाराके अनुसार मुझे गिरफ्तार करनेकी चर्चाएं चलीं। लेकिन मुझसे परवाना मांगनेकी किसीकी हिम्मत न पड़ी। जब अधिकारियोंको मालूम हुआ कि मैं परवानेके साथ दाखिल हुआ हूं तब उन्हें निराशा हुई।

मुझे इस विभागके अधिकारीसे मिलनेका संदेश मिला। मेरे नाम कोई पत्र नहीं आया था। अग्रगण्य हिन्दुस्तानियोंको वहां निरन्तर जाना पड़ता था। इस अधिकारीने तैयब सेठसे मेरे बारेमें पूछा। सेठके जवाबसे साहब नाराज हुए और हुक्म दिया --- "गांधीको मेरे पास लाना।"

मैं तैयब सेठ वगैराके साथ गया। हम सब खड़े रहे। साहबने मुझसे साफ-साफ कह दिया :

"आप यहांके निवासी नहीं माने जा सकते। आपको वापस जाना होगा। आप मि० चेम्बरलेनके पास भी नहीं जा सकते। यहांके हिन्दुस्तानियोंकी रक्षा करनेके लिए तो हमारा विभाग विशेष रूपसे खोला गया है। अच्छा, जाइये।"

साहबने मुझे जवाब देनेका समय ही नहीं दिया। दूसरे साथियोंको रोका। उन्हें धमकाया और सलाह दी कि वे मुझे ट्रान्सवालसे बिदा कर दें।

साथी कसैला मुंह लेकर बाहर आये। इस प्रकार हमारे सामने अचानक ही एक नई समस्या खड़ी हो गई।

मुझे इस अपमानसे बहुत दुःख हुआ। लेकिन पहले मैं इस प्रकारके अपमान सहन कर चुका था, इसलिए मैं पक्का हो गया था। फलतः मैंने यह निश्चय किया कि अपमानकी परवाह न करके तटस्थ भावसे मुझे जो कर्त्तव्य सूझे, मैं करूं।

उक्त अधिकारीकी सहीसे एक पत्र आया। उसमें लिखा था कि मि० चेम्बरलेन डरबनमें मि० गांधीसे मिल चुके हैं, इसलिए अब उनका नाम प्रतिनिधियोंमें से निकाल डालनेकी जरूरत है।

साथियोंको यह पत्र असह्य मालूम हुआ। उन्होंने डेप्युटेशनके विचारको छोड़ देनेकी इच्छा प्रकट की। मैंने उन्हें कौमकी नाजुक हालत बताई। मुझे कौमकी मर्यादाका अनुभव था। इसलिए मैंने साथियोंको शांत किया और मेरे बदले ज्यॉर्ज गॉडफ्रेको, जो हिन्दुस्तानी बैरिस्टर थे, ले जानेकी सलाह दी।

लेकिन इससे कौमका और मेरा काम बढ़ा। मुझे ताना मारनेवाले लोग भी मिले: "आपके कहनेसे कौमने लड़ाईमें हाथ बंटाया, लेकिन उसका परिणाम तो यही निकला न?"

मुझ पर इसका कोई असर न हुआ। मैंने कहा—"बीती बातोंका विचार करनेकी अपेक्षा यह सोचना अधिक अच्छा है कि अब हमारा कर्त्तव्य क्या है। सच पूछिये तो जिस कामके लिए मुझे आपने बुलाया था, वह तो अब पूरा हुआ माना जा सकता है। लेकिन मैं मानता हूं कि आपकी ओरसे अनुमति मिल जानेपर भी मैं अब ट्रान्सवालसे न हटूंगा। अब मेरा काम नातालसे नहीं, बल्कि यहांसे चलना चाहिये। मुझे एक वर्षके अन्दर वापस जानेका विचार छोड़ देना चाहिये और यहां वकालतकी सनद हासिल करनी चाहिये। इस नये विभागका सफलतापूर्वक सामना करनेकी हिम्मत मुझमें है। अगर इसका सामना न किया गया, तो कौम लुट जायगी और शायद यहांसे कौमके पैर उखड़ जायेंगे।"

इस तरह मैंने चर्चा चलाई। प्रिटोरिया और जोहानिसबर्गमें रहनेवाले हिन्दुस्तानी अगुओंके साथ सलाह करके आखिर जोहानिसबर्गमें ऑफिस रखनेका मैंने निश्चय किया। मुझे सनद मिली। ऑफिसके लिए मैंने मकान अच्छी जगहमें प्राप्त किया और वकालत शुरू की।

६७. बढ़ती हुई त्यागवृत्ति

आज तक कुछ-न-कुछ द्रव्य एकत्र करनेकी इच्छा रहती थी। परमार्थके साथ स्वार्थका मिश्रण था।

जब बम्बईमें ऑफिस खोला तब एक अमेरिकन बीमा-दलाल मिलने आया था। उसने मुझसे भावी कल्याणकी बातें कीं। उस समय तक मैंने दक्षिण अफ्रीकामें और हिन्दुस्तानमें बहुतसे दलालोंकी बात नहीं मानी थी। मेरा खयाल यह था कि बीमा करानेमें कुछ-न-कुछ भीरुता और ईश्वरके प्रति अविश्वास है। किन्तु इस बार मैं ललचाया। मैंने दस हजार रुपयेकी पॉलिसी करवाई।

किन्तु दक्षिण अफ्रीकाकी मेरी बदली हुई परिस्थितिने मेरे विचार बदल डाले। दक्षिण अफ्रीकाकी नई आपत्तिके समय मैंने जितने भी कदम उठाये, सब ईश्वरको साक्षी रखकर ही उठाये थे। मुझे बिलकुल ही अन्दाज न था कि दक्षिण अफ्रीकामें मेरा कितना समय बीतेगा। मुझे लगता था कि मैं वापस हिन्दुस्तान नहीं जा पाऊंगा। मुझे बाल-बच्चोंको अपने साथ ही रखना चाहिये। अब उनका वियोग होना ही न चाहिये। उनके भरण-पोषणका प्रबन्ध भी दक्षिण अफ्रीकामें ही होना चाहिये। इस प्रकार विचार करनेके साथ ही मुझे अपनी वह पॉलिसी दुःखद प्रतीत हुई। बीमा-दलालके जालमें फंसनेके लिए मैं लज्जित हुआ। 'तूने यह कैसे मान लिया कि बड़े भाई अगर पिताके समान हैं, तो वे छोटे भाईकी विधवाको भाररूप मानेंगे? यह भी कैसे सोचा कि तू ही पहले मरेगा? पालन करनेवाला तो ईश्वर ही है; न तू है और न भाई। बीमा कराकर तूने अपने बाल-बच्चोंको भी पराधीन बनाया। वे स्वावलम्बी क्यों न बनें? असंख्य गरीबोंके बाल-बच्चोंका क्या होता है? तू अपनेको उनके समान क्यों नहीं मानता?'

इस प्रकार विचार-प्रवाह चला। उस पर अमल मैंने तुरन्त ही नहीं किया था। मुझे याद पड़ता है कि एक किस्त तो मैंने दक्षिण अफ्रीकासे भी भेजी थी।

किन्तु इस विचार-प्रवाहको बाहरका उत्तेजन प्राप्त हुआ। दक्षिण अफ्रीकाकी अपनी पहली यात्रामें खिस्ती वातावरणके बीच पहुंचकर मैं धर्मके बारेमें जाग्रत रहा था। इस बार थियोसॉफीके वातावरणमें रहा। मि० रीच थियोसॉफिस्ट थे। उन्होंने मेरा सम्पर्क जोहानिसबर्गकी सोसायटीसे करा दिया। मैं उसका सदस्य तो नहीं था, फिर भी मैं प्रायः प्रत्येक थियोसॉफिस्टके गाढ़ सम्पर्कमें आया। उनके साथ रोज धर्मचर्चा होती। थियोसॉफीमें भ्रातृभाव पैदा करना और उसे बढ़ाना मुख्य चीज है। हम इस विषयकी खूब चर्चा करते थे। जहां मुझे सदस्योंके विश्वास और आचरणमें भेद नजर आता, वहां मैं टीका भी करता था। इस टीकाका प्रभाव मेरे ऊपर काफी अच्छा हुआ। मैं आत्म-निरीक्षण करने लग गया।

६८. निरीक्षणका परिणाम

थियोसॉफिस्ट मित्र मुझे अपने मंडलमें खींचना अवश्य चाहते थे, किन्तु ऐसा करके वे हिन्दूके नाते मुझसे कुछ पानेकी इच्छा रखते थे। थियोसॉफी-की पुस्तकोंमें हिन्दू धर्मकी छाया और छाप तो काफी है ही; इसलिए इन भाइयोंने माना कि मैं उनकी मदद कर सकूंगा। मैंने उन्हें समझाया कि संस्कृतका मेरा अभ्यास नहींके बराबर है। मैंने हिन्दू धर्मके प्राचीन ग्रंथ संस्कृतमें पढ़े नहीं हैं। भाषान्तरके द्वारा भी मेरा वाचन कम ही हुआ है। किन्तु वहां मेरी हालत 'जहां झाड़ नहीं वहां एरण्ड ही झाड़' जैसी बन गई। किसीके साथ मैंने विवेकानन्दका 'राजयोग' पढ़ना शुरू किया, तो किसीके साथ मणिलाल नभुभाईका। एक मित्रके साथ 'पातंजल योगदर्शन' पढ़ना पड़ा। कइयोंके साथ गीताका अभ्यास शुरू हुआ। 'जिज्ञासु-मंडल' के नामसे एक छोटा-सा मंडल भी स्थापित किया और नियमित अभ्यास शुरू हुआ। गीताके प्रति मेरा प्रेम और श्रद्धा तो थी ही। अब मैंने उसमें गहरे पैठनेकी आवश्यकता अनुभव की। मेरे पास एक-दो अनुवाद थे। उनकी मददसे मैंने मूल संस्कृत समझ लेनेका प्रयत्न किया और प्रतिदिन एक अथवा दो श्लोक कंठ करनेका निश्चय किया।

सुबह दातुन और स्नानके समयका उपयोग मैंने श्लोक कंठ करनेमें किया। दातुनमें पन्द्रह मिनट और स्नानमें बीस मिनट लगते थे। दातुन मैं अंग्रेजी ढंगसे खड़े-खड़े करता था। सामनेकी दीवार पर गीताके श्लोक लिख-कर लटका देता और उन्हें आवश्यकतानुसार देखकर रटा करता था। इस तरह रटे हुए श्लोक बादमें स्नानसे निपटते समय तक पक्के हो जाते। इस बीच पिछले श्लोकोंका नित्य एक पाठ हो जाता। इस प्रकार मुझे याद है कि मैंने तेरह अध्याय तक गीता कंठाग्र कर ली थी।

मेरे लिए गीताकी पुस्तक आचारकी एक प्रौढ़ मार्गदर्शक पुस्तक बन गई। इस पुस्तकने मेरे धार्मिक कोशका काम किया। जिस प्रकार अपरिचित अंग्रेजी शब्दके हिज्जों अथवा उसके अर्थके लिए मैं अंग्रेजी शब्दकोश टटोलता था, उसी प्रकार आचार-विषयक कठिनाइयों और उसकी अटपटी पहेलियोंको मैं गीताजीकी मददसे सुलझाता था। उसके अपरिग्रह, समभाव आदि शब्दोंने मुझे बांध लिया। समभाव कैसे बढ़ाना? कैसे उसकी रक्षा करना? अपमान करनेवाले अधिकारियों, रिश्वत लेनेवाले अधिकारियों, व्यर्थका विरोध करनेवाले कल तकके साथियों तथा जिन्होंने जबरदस्त उपकार किया हो ऐसे सज्जनोंके बीच कोई भेद न करनेका अर्थ क्या है?

अपरिग्रहका पालन किस प्रकार होता होगा? देह अपने-आपमें कौन कम परिग्रह है? स्त्री-पुत्रादि परिग्रह नहीं तो और क्या हैं? पुस्तकोंसे भरी आलमारियां क्या जला देनी चाहिये? घर फूंककर तीर्थ करना चाहिये? तुरन्त ही उत्तर मिला कि घर फूंके बिना तीर्थ होता ही नहीं। अंग्रेजी कानूनने मेरी मदद की। स्नेलकी कानून-विषयक सिद्धान्तोंकी चर्चाका स्मरण हुआ। गीताजीके अभ्यासके परिणाम-स्वरूप मैंने 'ट्रस्टी' शब्दका अर्थ विशेष रूपसे समझा। कानूनके शास्त्रके प्रति आदर बढ़ा। उसमें भी मैंने धर्मके दर्शन किये। गीताजीसे मैं यह समझा कि जिस तरह ट्रस्टीके पास करोड़ोंकी संपत्ति होते हुए भी उसकी एक भी पाईको वह अपनी नहीं मानता, उसी तरह मुमुक्षुको व्यवहार करना चाहिये। मुझे यह दीयेकी तरह साफ दिखा कि अपरिग्रही बननेमें, समभावी होनेमें हेतुका, हृदयका परिवर्तन आवश्यक है। रेवाशंकरभाईको मैंने इस आशयका पत्र लिख डाला कि बीमेकी पॉलिसी खतम कर दें। कुछ वापस मिले तो ले लें, न मिले तो समझें कि दिये हुए पैसे गये। बालकोंकी और स्त्रीकी रक्षा उनका और हमारा सिरजनहार करेगा। पितृतुल्य भाईको लिखा—"अब तक तो मेरे पास जो बचा सो मैंने आपको अर्पित किया, अब मेरी आशा छोड़ दें। अब जो बचेगा सो यहीं कौमके लिए खर्च होगा।"

मैं भाईको यह बात झट समझा न सका। पहले तो उन्होंने मुझे कड़े शब्दोंमें अपने प्रति मेरे धर्मका बोध कराया—मुझे पितासे अधिक चतुर न बनना चाहिये। जिस तरह पिताने परिवारका पोषण किया, उसी तरह मुझे भी करना चाहिये, वगैरा। मैंने उत्तरमें विनयपूर्वक लिखा कि मैं पिताका ही काम कर रहा हूं। यदि परिवारके अर्थको थोड़ा व्यापक बना लें, तो मेरी बात आपको समझमें आने जैसी मालूम होगी।

भाईने आशा छोड़ी। लगभग अबोला-जैसा ले लिया। मुझे इससे दुःख हुआ। लेकिन जिसे मैं धर्म समझता था, उसे छोड़नेमें कहीं अधिक दुःख होता था। मैंने हलका दुःख सहन किया। फिर भी भाईके प्रति मेरी भक्ति निर्मल और प्रचण्ड थी। भाईका दुःख उनके प्रेमसे पैदा हुआ था। उन्हें मेरे पैसेसे भी बढ़कर मेरे सदाचारकी खास जरूरत थी।

अपने आखिरी दिनोंमें भाई पसीजे। मृत्युशय्या पर पड़े-पड़े उन्होंने अनुभव किया कि मेरा कदम ही सही और धर्मानुकूल था। उनका अत्यन्त करुणाजनक पत्र मिला। यदि पिता पुत्रसे माफी मांग सकता हो, तो उन्होंने मुझसे माफी मांगी। मुझे लिखा कि मैं उनके लड़कोंकी परवरिश अपने ढंगसे करूं। मुझसे मिलनेके लिए वे अधीर हुए। मुझे तार किया। मैंने तारसे जवाब दिया—"आइये।" लेकिन हमारा मिलाप बदा न था।

६९. निरामिषाहारके लिए बलिदान

मेरे जीवनमें जैसे-जैसे त्याग और सादगी बढ़ी और धर्म-जागृतिमें वृद्धि हुई, वैसे-वैसे निरामिषाहारका और उसके प्रचारका मेरा शौक बढ़ता गया। प्रचारका काम मैंने एक ही प्रकारसे करना जाना है—आचारसे और आचारके साथ ही जिज्ञासुसे बातचीत करके।

थियोसॉफिस्ट मंडलकी एक महिला साहसी थी। उसने बड़े पैमाने पर एक निरामिषाहारी गृह खोला। इस महिलाको कलाका शौक था। वह काफी खर्चीली थी और हिसाबका उसे बहुत भान न था। शुरूमें उसका काम छोटे पैमाने पर चला। लेकिन उसने उसमें वृद्धि करने और बड़ी जगह प्राप्त करनेका निश्चय किया। इसके लिए मेरी मदद चाही। उस समय मुझे उसके हिसाब-किताबकी कोई जानकारी न थी। मैंने मान लिया था कि उसका अनुमान ठीक ही होगा। मेरे पास सुविधा थी। कई मुवक्किलोंकी रकमें मेरे पास रहती थीं। उनमें से एककी इजाजत लेकर उसकी रकममें से लगभग एक हजार पौंड मैंने उसे दे दिये। कोई दो-तीन महीनोंमें ही मुझे मालूम हो गया कि ये पैसे वापस नहीं मिलेंगे। इतनी बड़ी रकम खोनेकी शक्ति मुझमें नहीं थी। मेरे पास इतने पैसोंका दूसरा उपयोग था। पैसे वापस लौटे ही नहीं। किन्तु विश्वासी बदरीके पैसे क्योंकर डूबते? उसने तो मुझीको जाना था। मैंने वे पैसे भर दिये।

अपने एक मुवक्किल मित्रसे मैंने पैसोंके इस लेन-देनकी चर्चा की। उन्होंने मुझे मीठा उलाहना देते हुए जाग्रत किया:

"भाई, (दक्षिण अफ्रीकामें मैं 'महात्मा' न बना था, 'बापू' भी नहीं बना था। मुवक्किल मित्र मुझे 'भाई' कहकर ही बुलाते थे।) यह आपका काम नहीं। हम तो आपके विश्वास पर चलनेवाले हैं। ये पैसे आपको वापस नहीं मिलेंगे। बदरीको तो आप बचा लेंगे और अपनी गांठके खोयेंगे। किन्तु सुधारके ऐसे कामोंमें आप सब मुवक्किलोंके पैसे देने लगेंगे, तो मुवक्किल मर जायेंगे और आप भिखारी बनकर घर बैठेंगे। इससे आपके सार्वजनिक कामको धक्का पहुंचेगा।"

इन मुवक्किलकी चेतावनी मुझे सच्ची लगी। बदरीके पैसे तो मैं भर सका, लेकिन यदि उन्हीं दिनों मैंने दूसरे हजार पौंड खोये होते, तो उनकी भरपाई करनेकी मुझमें थोड़ी भी शक्ति नहीं थी और मुझे कर्जमें ही डूबना पड़ता। और कर्जका धंधा तो मैंने अपने सारे जीवनमें कभी

किया ही नहीं। उसके प्रति मेरे मनमें हमेशा भारी अरुचि रही है। मैंने देखा कि सुधारके लिए भी अपनी शक्तिके बाहर जाना उचित नहीं। मैंने यह भी अनुभव किया कि इस प्रकारके लेन-देनमें पड़ कर मैंने गीताके तटस्थ निष्काम कर्मवाले मुख्य पाठका अनादर किया है। यह भूल मेरे लिए दीपस्तम्भ बन गई।

७०. मेरे विविध प्रयोग

जैसे-जैसे मेरे जीवनमें सादगी बढ़ती गई, वैसे-वैसे रोगोंके लिए दवा लेनेकी अरुचि, जो शुरूसे ही थी, बढ़ती गई। जब मैं डरबनमें वकालत करता था, तब डॉ॰ प्राणजीवनदास मेहता मुझसे मिलने आये थे। उन दिनों मुझे कमजोरी रहती थी और कभी-कभी सूजन भी आ जाती थी। उन्होंने इसका इलाज किया था और उससे मुझे आराम हुआ था। उसके बाद मुझे वापस देश लौटने तक कोई उल्लेख करने लायक व्याधि हुई हो ऐसा याद नहीं पड़ता।

किन्तु जोहानिसबर्गमें मुझे कब्ज रहता था और बीच-बीचमें सिर भी दुखा करता था। रेचनकी कोई न कोई दवा लेकर मैं स्वास्थ्य ठीक रखता था। भोजन तो मैं हमेशा पथ्यकारक ही करता था। लेकिन उससे मैं बिलकुल व्याधिमुक्त नहीं हुआ। मनमें यह इच्छा बनी ही रहती थी कि रेचनसे भी छुट्टी मिले तो अच्छा हो।

मैं तीन बार पेट भर कर खाता और दोपहरकी चाय भी पीता था। मैं कभी अल्पाहारी न रहा। निरामिषाहारमें भी बिना मसालेके जितने स्वाद किये जा सकते थे उतने मैं करता था। छह-सात बजेसे पहले शायद ही उठता था। मैंने 'नो ब्रेकफास्ट एसोसियेशन' के विषयमें पढ़ा। उस परसे मुझे लगा कि यदि मैं सवेरेका नाश्ता छोड़ दूं, तो सिरके दर्दसे अवश्य ही मुक्ति पा जाऊं। मैंने सवेरेका नाश्ता छोड़ा। कुछ दिन तक यह कठिन तो मालूम हुआ, लेकिन सिरका दर्द सदाके लिए चला गया। उस परसे मैंने यह नतीजा निकाला कि मेरी खुराक जरूरतसे ज्यादा थी।

लेकिन इस फेरफारसे कब्जकी शिकायत दूर नहीं हुई। क्यूनेके कटि-स्नानके उपचार किये। उनसे थोड़ा आराम हुआ। मैंने मिट्टीके उपचारके बारेमें पढ़ा और उपचार शुरू किया। उसका मुझ पर आश्चर्यजनक प्रभाव पड़ा। उससे कब्जकी मेरी शिकायत बिलकुल मिट गई। इसके बाद मैंने अपने ऊपर और अपने अनेक साथियों पर मिट्टीके उपचार आजमाये हैं, और मुझे याद नहीं पड़ता कि मैं उनमें कभी निष्फल रहा हूं।

देशमें आनेके बाद मैं ऐसे उपचारोंके सम्वन्धमें आत्म-विश्वास खो बैठा हूं। प्रयोग करनेका और एक जगह स्थिर बैठनेका मुझे अवसर ही नहीं मिल पाया। फिर भी मिट्टी और पानीके उपचारोंके संबंधमें मेरी श्रद्धा जैसी शुरूमें थी, आज भी बहुत-कुछ वैसी ही है। मैं मानता हूं कि मनुष्योंको दवा लेनेकी आवश्यकता क्वचित् ही होती है। पथ्य और पानी, मिट्टी इत्यादि घरेलू उपचारोंसे एक हजारमें से नौ सौ निन्यानबे केस अच्छे हो सकते हैं।

पल-पल पर वैद्य, हकीम और डॉक्टरके घर दौड़नेसे और शरीरमें अनेक प्रकारके पाकों और रसायनोंको भरनेसे मनुष्य अपने जीवनको न केवल अल्पायु बनाता है, बल्कि अपने मनपर काबू खो बैठता है। फलत: वह मनुष्यत्वको खोता है और शरीरका स्वामी रहनेके बदले शरीरका गुलाम बनता है।

मिट्टीके प्रयोगोंके जैसा मेरा आहारका भी प्रयोग था। उसके संबंधमें मैंने 'आरोग्य-विषयक सामान्य ज्ञान'* नामक पुस्तकमें विस्तारसे लिखा है। उसमें लिखे गये अपने विचारोंमें फेरफार करनेकी आवश्यकता मैंने अनुभव नहीं की। फिर भी आचारमें मैंने महत्त्वके फेरफार किये हैं।

उक्त पुस्तक लिखनेमें -- अन्य लेखनकी भांति -- केवल धर्म-भावना ही कारण थी और वही आज भी मेरे प्रत्येक कार्यमें विद्यमान है। इसलिए उसमें दिये गये कुछ विचारों पर मैं आज अमल नहीं कर सकता, इससे मुझे खेद होता है और शरम मालूम होती है।

लेकिन मेरे भाग्यमें हिन्दुस्तानमें रहते हुए अपने प्रयोगको संपूर्णता तक पहुंचाना बदा न था।

खाने-पीनेके साथ आत्माका कोई संबंध नहीं। वह न तो खाती है, न पीती है। जो पेटमें जाता है वह नहीं, बल्कि जो वचन अन्दरसे निकलते हैं वे हानि-लाभ पहुंचाते हैं, आदि दलीलोंको मैं जानता हूं। इनमें तथ्यांश है। लेकिन यहां तो दलीलमें उतरे बिना मैं अपना यह दृढ़ निश्चय ही प्रकट किये देता हूं कि जो ईश्वरसे डर कर चलना चाहता है, ऐसे साधक और मुमुक्षुके लिए अपने आहारका चुनाव -- त्याग और स्वीकार -- उतना ही आवश्यक है, जितना विचार और वाणीका चुनाव -- त्याग और स्वीकार -- आवश्यक है।

---

* 'आरोग्यनी चावी' के नामसे गांधीजीने यह पुस्तक १९४२ में दुबारा लिख डाली थी। मूल गुजरातीका हिन्दी संस्करण 'आरोग्यकी कुंजी' नवजीवनसे प्रकाशित हो चुका है, इसलिए अब उसे देखना चाहिये। -- प्रकाशक

७१. बलवानके साथ मुठभेड़

एशियाई अधिकारियोंका बड़े-से-बड़ा केन्द्र जोहानिसबर्गमें था। इस केन्द्रमें हिन्दुस्तानी, चीनी आदिका रक्षण नहीं बल्कि भक्षण होता है; यह मुझे साफ दीख रहा था। मेरे पास रोज ही शिकायतें आतीं — "हकदार दाखिल नहीं हो सकते और बगैर हकवाले सौ-सौ पौण्ड देकर चले आ रहे हैं। अगर आप इसका इलाज न करेंगे, तो और कौन करेगा?" मेरी अपनी भी यही भावना थी। यदि यह सड़ांध दूर न हुई, तो मेरा ट्रान्सवालमें बसना व्यर्थ ही कहा जायगा।

मैं प्रमाण एकत्र करने लगा। जब मेरे पास प्रमाणोंका अच्छा-सा संग्रह हो गया, तो मैं पुलिस-कमिश्नरके पास पहुंचा। उसने मेरी बा धीरजसे सुनी और प्रमाण प्रस्तुत करनेको कहा। स्वयं ही साक्षियोंकी जांच की। उसे विश्वास हो गया, किन्तु मेरी तरह वह भी जानता था कि दक्षिण अफ्रीकामें गोरे पंचोंसे गोरे गुनहगारको दण्डित कराना कठिन है। फिर भी वह कार्रवाई करनेके लिए तैयार हुआ।

दो अधिकारियोंके बारेमें जरा भी शक न था, इसलिए उन दोके नाम वारण्ट जारी हुए। उन पर मुकदमा चला। सबूत भी अच्छे मिले। फिर भी दोनों छूट गये।

मैं बहुत निराश हुआ। पुलिस-कमिश्नरको भी दुःख हुआ। मुझे वकीलके धंधेसे अरुचि उत्पन्न हो गई। यह देखकर कि बुद्धिका उपयोग दोषको छिपानेमें किया जा रहा है, मुझे बुद्धि ही अप्रिय लगने लगी।

दोनों अधिकारियोंका अपराध इतना प्रसिद्ध हो चुका था कि उनके बरी हो जाने पर भी सरकार उन्हें निबाह नहीं सकी। दोनों बरखास्त किये गये और एशियाई केन्द्र कुछ स्वच्छ बना। अब कौमको तसल्ली हुई और उसमें हिम्मत भी आई।

मेरी प्रतिष्ठा बढ़ी। मेरा धंधा भी बढ़ा। कौमके जो सैकड़ों पौण्ड हर महीने रिश्वतमें ही खर्च होते थे, उनमें से बहुतसे बचे। जो अप्रामाणिक थे, वे तो अभी भी रिश्वतखोरी जारी रखे हुए थे। किन्तु जो प्रामाणिक थे, वे अपनी प्रामाणिकताकी रक्षा कर सके थे।

ये अधिकारी इतने अधम होने पर भी व्यक्तिगत रूपसे मेरे दिलमें उनके विरुद्ध कुछ न था। मेरे इस स्वभावको वे जानते थे। और जब उनकी कंगाल हालतमें मुझे उन्हें मदद पहुंचानेका अवसर मिला, तब मैंने उनकी मदद भी की थी।

इसका असर हुआ। गोरोंके जिस वर्गके सम्पर्कमें मैं आया, वे मेरे प्रति निर्भय बनने लगे; और यद्यपि मुझे उनके विभागके विरुद्ध अक्सर लड़ना पड़ता था, तीखे शब्दोंका उपयोग करना पड़ता था, फिर भी वे मेरे साथ मीठा संबंध रखते थे। उन दिनों मुझे इस बातका ठीक-ठीक ज्ञान नहीं था कि इस प्रकारका व्यवहार मेरे स्वभावका एक अंग ही है। बादमें यह बात मेरी समझमें आई कि ऐसे व्यवहारमें सत्याग्रहकी जड़ निहित है और वह अहिंसाका एक विशिष्ट अंग है।

मनुष्य और उसका काम, ये दो भिन्न चीजें हैं। अच्छे कामोंके प्रति आदर और बुरे कामोंके प्रति तिरस्कार होना ही चाहिये। किन्तु अच्छे-बुरे काम करनेवालोंके प्रति हमेशा आदर अथवा दया होनी चाहिये। वैसे समझनेमें यह चीज आसान है, फिर भी इसका अमल कम-से-कम होता है। यही कारण है कि इस दुनियामें जहर फैलता रहता है।

सत्यकी शोधके मूलमें इस प्रकारकी अहिंसा मौजूद है। मैं प्रतिक्षण यह अनुभव करता हूं कि जब तक यह हाथमें न आवे तब तक सत्य मिलता ही नहीं। व्यवस्थाके विरुद्ध झगड़ा शोभा देता है, व्यवस्थापकके विरुद्ध झगड़ा करना अपने विरुद्ध झगड़ा करनेके समान है; क्योंकि सब एक ही कूंचीसे चित्रित हैं, एक ही ब्रह्माकी सन्तान हैं। व्यवस्थापकमें तो अनंत शक्तियां विद्यमान हैं। व्यवस्थापकका अनादर — तिरस्कार — करनेसे उन शक्तियोंका अनादर होता है, और वैसा होनेसे व्यवस्थापकको और साथ ही दुनियाको नुकसान पहुंचता है।

७२. एक पुण्य स्मरण

मेरे जीवनमें बार-बार ऐसी घटनायें घटती ही रही हैं, जिनके द्वारा मैं अनेक धर्मावलम्बियों और अनेक जातियोंके गाढ़ परिचयमें आ सका हूं। इन सबके अनुभवसे यह कहा जा सकता है कि मैंने अपनों और बिरानों, देशी और विदेशी, गोरों और कालों, हिन्दू और मुसलमान अथवा ख्रिस्ती, पारसी या यहूदीके बीच कभी कोई भेद नहीं किया।

मेरा हृदय ऐसे किसी भेदको पहचान ही न सका। इस चीजको मैं अपने लिए गुण नहीं मानता, क्योंकि जिस प्रकार अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह आदि यमोंके विकासके लिए प्रयत्न करनेका और उस प्रयत्नके अभी तक चालू रहनेका मुझे पूरा भान है, उस तरह इस प्रकारके अभेदको सिद्ध करनेके लिए मैंने कोई खास प्रयत्न किया हो ऐसा मुझे याद नहीं पड़ता।

जब मैं डरबनमें वकालत करता था, तब अक्सर मेरे मुंशी या कारकुन मेरे साथ रहते थे। उनमें हिन्दू और ख्रिस्ती थे, अथवा प्रांतकी दृष्टिसे कहूं तो गुजराती और मद्रासी थे। मुझे याद नहीं पड़ता कि उनके बारेमें मेरे मनमें कभी भेदभाव उत्पन्न हुआ हो। उन्हें मैं अपने परिवारका अंग ही मानता था और यदि इसमें पत्नीकी ओरसे कोई विघ्न आता, तो मैं उससे लड़ता था।

एक मुंशी ख्रिस्ती थे। उनके माता-पिता पंचम जातिके थे। हमारे घरकी रचना पाश्चात्य ढंगकी थी। हर कमरेमें मोरीके बदले पेशाबके लिए खास बरतन रहता था। उसे उठानेका काम नौकरका नहीं, बल्कि हम पति-पत्नीका था। पंचम कुलमें जनमे हुए ये मुंशी नये थे। उनका बरतन भी हमींको उठाना था। कस्तूरबाई दूसरे बरतन तो उठाती थी, लेकिन उसकी दृष्टिमें इन भाईका बरतन उठाना हदसे बाहरकी बात थी। हमारे बीच कलह शुरू हुआ। मेरा उठाना उसे बरदाश्त न होता था; और खुद उसके लिए यह बरतन उठाना भारी हो गया था।

किन्तु मैं जितना प्रेमी पति था उतना ही घातक पति था। मैं अपनेको उसका शिक्षक भी मानता था और इस कारण अपने अन्धप्रेमके वश होकर उसे खूब सताता था।

यों उसके केवल बरतन उठाकर ले जाने भरसे मुझे सन्तोष न हुआ। सन्तोष तो मुझे तभी होता जब वह उसे हंसते मुंह ले जाती। इसलिए मैंने दो बातें ऊंचे स्वरमें कहीं। मैं चिल्ला उठा: "यह कलह मेरे घरमें नहीं चलेगा।"

यह वचन उसे तीरकी तरह चुभा।

पत्नी धधक उठी — "तो अपना घर अपने पास रखिये, मैं यह चली।"

मैं तो ईश्वरको भूल बैठा था। मेरे भीतर दयाका अंश भी न रह गया था। मैंने उसका हाथ पकड़ा। सीढ़ीके सामने ही बाहर निकलनेका दरवाजा था। मैं इस गरीब अबलाको पकड़कर दरवाजे तक खींच ले गया। दरवाजा आधा खोला।

कस्तूरबाईकी आंखोंसे गंगा-जमना बह रही थीं। वह बोली:

"आपको तो लाज नहीं है। मुझे है। तनिक तो शरमाइये। मैं बाहर निकलकर जाऊंगी कहां? यहां मां-बाप नहीं हैं, जो उनके घर चली जाऊं। मैं औरत हूं, इसलिए मुझे आपके घूंसे खाने ही होंगे। अब जरा शरमाइये और दरवाजा बन्द करिये। कोई देख लेगा तो दोनोंमें से एककी भी शोभा न रहेगी।"

मैंने मुंह तो लाल रखा, लेकिन साथ ही शरमिन्दा भी हुआ। दरवाजा बन्द कर लिया। यदि पत्नी मुझे नहीं छोड़ सकती थी, तो मैं भी उसे छोड़कर कहां जानेको था? हमारे बीच झगड़े तो बहुत हुए हैं, किन्तु परिणाम हमेशा मंगलकारी ही रहा है। पत्नीने अपनी अद्भुत सहन-शक्तिसे विजय पाई है।

यह घटना तो हमारे बीते युगकी है। आज न तो मैं मोहान्ध पति हूं, न शिक्षक। कस्तूरबाई चाहे तो आज मुझे धमका सकती है। आज हम कसौटी पर परखे हुए मित्र हैं, एक-दूसरेके प्रति निर्विकार बनकर रहते हैं। मेरी बीमारीमें बिना किसी बदलेकी इच्छा रखे मेरी सेवा-टहल करनेवाली वह सेविका है।

ऊपरकी घटना सन् १८९८ में घटी थी। उस समय मैं ब्रह्मचर्यके पालनके बारेमें कुछ भी जानता न था। यह वह समय था जब मुझे इस बातका स्पष्ट भान न था कि पत्नी केवल सहधर्मिणी, सहचारिणी और सुख-दुःखकी साथिन है। मैं जानता हूं कि उन दिनों मैं यह मानकर चलता था कि वह विषय-भोगका भाजन है और पतिकी चाहे जैसी आज्ञाको पालनेके लिए पैदा हुई है।

सन् १९०० से मेरे विचारोंमें गंभीर परिवर्तन हुआ। १९०६ में उनकी परिणति हुई। जैसे-जैसे मैं निर्विकार बनता गया, वैसे-वैसे मेरी घर-गृहस्थी शांत, निर्मल और सुखी बनती गई है और आज भी बनती जा रही है।

इस पुण्य स्मरणसे कोई यह न मान बैठे कि हम आदर्श दम्पती हैं; अथवा मेरी धर्मपत्नीमें कुछ भी दोष नहीं है। या कि अब तो हमारे आदर्श एक ही हैं। कस्तूरबाईका अपना कोई स्वतंत्र आदर्श है या नहीं, सो वह बेचारी खुद भी जानती न होगी। संभव है कि मेरे बहुतसे आचरण उसे आज भी अच्छे न लगते हों। इसके बारेमें हम कभी चर्चा नहीं करते; करनेमें कोई सार भी नहीं। किन्तु उसमें एक गुण बहुत बड़ी मात्रामें है। इच्छासे हो या अनिच्छासे, ज्ञानपूर्वक हो या अज्ञानपूर्वक, मेरे पीछे-पीछे चलनेमें ही उसने अपने जीवनकी सार्थकता मानी है और स्वच्छ जीवन बितानेके मेरे प्रयत्नमें मुझे कभी रोका नहीं है। इस कारण हमारी बुद्धिशक्तिमें बहुत अंतर होते हुए भी मुझे यह लगा है कि हमारा जीवन सन्तोषी, सुखी और ऊर्ध्वगामी है।

७३. अंग्रेजोंसे परिचय – १

जब मैंने यह कथा लिखनी शुरू की थी, तब मेरे पास कोई योजना तैयार न थी। इन अध्यायोंको मैं अपने सामने कोई पुस्तकें, डायरी या दूसरे कागज-पत्र रखकर नहीं लिख रहा हूं। कहा जा सकता है कि लिखनेके दिन अन्तर्यामी मुझे जिस तरह कहता है उसी तरह मैं लिखता हूं। जो क्रिया मेरे अन्तरमें चलती है, मैं निश्चयपूर्वक नहीं जानता कि उसे अन्तर्यामीकी क्रिया कहा जा सकता है या नहीं। लेकिन कई वर्षोंसे मैंने जिस प्रकार अपने बड़े-से-बड़े माने गये और छोटे-से-छोटे गिने जानेवाले कार्य किये हैं, उसकी छानबीन करते हुए मुझे यह कहना अनुचित प्रतीत नहीं होता कि वे अन्तर्यामीकी प्रेरणासे हुए हैं।

अन्तर्यामीको मैंने देखा नहीं, जाना नहीं। संसारकी ईश्वर-विषयक श्रद्धाको मैंने अपनी श्रद्धा बना लिया है। यह श्रद्धा किसी प्रकार मिटाई नहीं जा सकती, इसलिए उसे श्रद्धाके रूपमें पहचानना छोड़कर मैं अनुभवके रूपमें ही पहचानता हूं। फिर भी इस प्रकारसे अनुभवके रूपमें उसका परिचय देना भी सत्य पर एक प्रकारका प्रहार करना है। इसलिए कदाचित् अधिक उचित तो यह कहना ही होगा कि शुद्ध रूपमें उसका परिचय करानेवाला शब्द मेरे पास नहीं है।

मेरी यह मान्यता है कि उस अदृष्ट अन्तर्यामीके वशीभूत होकर मैं यह कथा लिख रहा हूं।

इतिहासके रूपमें आत्मकथा-मात्रकी अपूर्णता और उसकी कठिनाइयोंके बारेमें पहले मैंने जो पढ़ा था, उसका अर्थ आज मैं अधिक समझता हूं। मैं यह जानता हूं कि सत्यके प्रयोगोंकी आत्मकथामें जितना कुछ मुझे याद है उतना सब मैं नहीं ही दे रहा हूं। कौन जानता है कि सत्यका दर्शन करानेके लिए मुझे कितना देना चाहिये? अथवा न्याय-मंदिरमें एकांगी और अधूरे प्रमाणोंकी क्या कीमत कूती जायगी?

इस तरह सोचने पर क्षणभरके लिए मनमें यही विचार आता है कि क्या इन अध्यायोंका लेखन बन्द कर देना ही अधिक योग्य न होगा? किन्तु आखिरमें मैं इस निश्चय पर पहुंचता हूं कि जब तक शुरू किया हुआ काम स्पष्ट रूपसे अनीतिमय प्रतीत न हो, तब तक उसे न छोड़नेके न्यायके अनुसार जब तक अन्तर्यामी न रोके तब तक इन अध्यायोंका लेखन मुझे जारी रखना चाहिये।

यह कथा टीकाकारोंको संतुष्ट करनेके लिए नहीं लिखी जा रही है। सत्यके प्रयोगोंमें यह भी एक प्रयोग ही है। साथ ही यह दृष्टि भी इसके पीछे है ही कि इससे साथियोंको कुछ आश्वासन मिलेगा। इसका प्रारम्भ ही उनके संतोषके लिए है।

जिस प्रकार मैंने हिन्दुस्तानी कारकुनों और दूसरोंको अपने कुटुम्बियोंकी तरह रखा था, उसी प्रकार मैं अंग्रेजोंको भी रखने लगा था। मेरा यह व्यवहार मेरे साथ रहनेवाले सब लोगोंके लिए अनुकूल न था। कुछ सम्बन्धोंके कड़वे अनुभव भी प्राप्त हुए। किन्तु ऐसे अनुभव तो देशी-विदेशी दोनोंके सम्बन्धमें हुए। कड़वे अनुभवोंके लिए मुझे पश्चात्ताप नहीं हुआ। कड़वे अनुभवोंके रहते भी और यह जानते हुए भी कि मित्रोंको असुविधा होती है और कष्ट सहन करना पड़ता है, मैंने अपनी आदत नहीं बदली और मित्रोंने उसे उदारतापूर्वक सहन किया है। मेरा अपना यह विश्वास है कि आस्तिक मनुष्योंमें. जो अपनेमें विद्यमान ईश्वरको सबमें देखना चाहते हैं, सबके साथ अलिप्त होकर रहनेकी शक्ति आनी चाहिये। और ऐसी शक्ति तभी विकसित की जा सकती है, जब जहां-जहां अनखोजे अवसर आवें वहां-वहां उनसे दूर न भागकर नये-नये सम्पर्क स्थापित किये जायं और वैसा करते हुए भी राग-द्वेषसे दूर रहा जाय।

इसलिए जब बोअर-ब्रिटिश युद्ध शुरू हुआ, तब अपना घर भरा होते हुए भी मैंने जोहानिसबर्गसे आये हुए दो अंग्रेजोंको अपने यहां टिकाया था। दोनों थियोसॉफिस्ट थे। इन मित्रोंके सहवासने भी धर्मपत्नीको रुलाया ही था। मेरे कारण उसके हिस्से रोनेके अवसर तो अनेक आये हैं। यद्यपि मुझे याद है कि इन मित्रोंको रखनेमें कुछ कठिनाइयां खड़ी हुई थीं, फिर भी मैं यह अवश्य कह सकता हूं कि दोनों व्यक्ति घरके दूसरे लोगोंके साथ हिलमिल गये थे।

७४. अंग्रेजोंसे परिचय – २

एक बार जोहानिसबर्गमें मेरे पास चार हिन्दुस्तानी कारकुन हो गये थे। मैं नहीं कह सकता कि उन्हें कारकुन मानूं या बेटे। किन्तु इससे मेरा काम न सधा। टाइपिंगके बिना तो काम चल ही नहीं सकता था। टाइपिंगका जो थोड़ा भी ज्ञान था, सो मुझे ही था। इन चार नौजवानोंमें से दोको मैंने टाइपिंग सिखाया, किन्तु अंग्रेजीका ज्ञान कम होनेसे उनका टाइपिंग कभी अच्छा न हो सका। फिर इन्हींमें से मुझे हिसाबनवीस भी तैयार करने थे। नातालसे अपनी इच्छानुसार मैं किसीको बुला न सकता था, क्योंकि बगैर

परवानेके कोई हिन्दुस्तानी दाखिल हो ही न पाता था। और अपनी सुविधाके लिए मैं अधिकारियोंसे मेहरबानीकी भीख मांगनेको तैयार न था।

मैं सोचमें पड़ा। काम इतना बढ़ गया था कि कितनी भी मेहनत क्यों न की जाय, मेरे लिए यह संभव न रहा कि मैं वकालत और सार्वजनिक सेवा दोनोंको ठीकसे कर सकूं।

कारकुनीके लिए अंग्रेज स्त्री-पुरुषोंके मिलने पर भी मैं उन्हें न रखूं ऐसी कोई बात न थी। एक टाइप-राइटिंग एजेण्टके द्वारा मुझे मिस डिक नामकी एक स्कॉच कुमारिका मिल गई। यह महिला हाल ही स्कॉटलैंडसे आई थी। उसे तुरन्त काम पर लगना था। हिन्दुस्तानीके अधीन काम करनेमें उसे कोई आपत्ति न थी। वह तुरन्त काम पर आने लगी।

उसने केवल मेरे कारकुनका ही नहीं, बल्कि मैं यह मानता हूं कि सगी लड़की या बहनका पद तुरन्त आसानीसे ले लिया। मुझे शायद ही कभी उसके काममें कोई गलती निकालनी पड़ी हो। एक समय ऐसा था जब हजारों पौंडका व्यवहार उसके हाथमें था और वह हिसाब-किताब भी रखने लग गई थी। उसने सम्पूर्ण रूपसे मेरा विश्वास संपादन कर लिया था। लेकिन मेरे मन बड़ी बात यह थी कि मैं उसकी भावनाओंको जानने जितना उसका विश्वास संपादन कर सका था। अपना साथी पसन्द करनेमें उसने मेरी सलाह ली। कन्यादान देनेका सौभाग्य भी मुझीको प्राप्त हुआ। विवाह हो जाने पर उसने मेरा काम छोड़ दिया।

ऑफिसमें एक शॉर्टहैण्ड राइटरकी जरूरत बराबर रहती ही थी। एक महिला इसके लिए भी मिल गई। नाम था मिस श्लेशिन। जब वह मेरे पास आई, उसकी उमर कोई सत्रह सालकी रही होगी। उसकी कुछ विचित्रताओंसे मि० कैलनबैक और मैं दोनों हार जाते। वह नौकरी करनेके इरादेसे नहीं आई थी। उसे तो अनुभव कमाने थे। उसके स्वभावमें कहीं रागद्वेष तो था ही नहीं। वह किसीका भी अपमान करनेसे डरती न थी और अपने मनमें जिसके बारेमें जो विचार आते, सो कहनेमें संकोच न रखती थी। अपने इस स्वभावके कारण वह कभी-कभी मुझे परेशानीमें डाल देती थी। लेकिन उसका सरल और शुद्ध स्वभाव सारी परेशानी दूर कर देता था।

उसकी त्यागवृत्तिका पार न था। उसने एक लम्बे समय तक तो मुझसे सिर्फ छह पौंड लिये और दस पौंडसे अधिक लेनेसे तो उसने अन्त तक साफ इनकार ही किया। जब मैं अधिक लेनेको कहता, तो वह मुझे धमकाती और कहती — "मैं वेतनके लिए नहीं रही हूं। मुझे तो आपके साथ यह काम करना अच्छा लगता है। आपके आदर्श मुझे पसन्द हैं, इसीलिए मैं टिकी हूं।"

जैसी उसकी त्यागवृत्ति तीव्र थी, वैसी ही उसकी हिम्मत भी थी। मुझे स्फटिक मणि-सी पवित्रता और क्षत्रियको भी चौंधिया देनेवाली वीरतासे युक्त जिन महिलाओंके सम्पर्कमें आनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ है, उनमें से एक मैं इस बालाको मानता हूं।

काम करनेमें उसने रात या दिनका कोई भेद कभी जाना नहीं। जब हम सब जेलमें थे, शायद ही कोई जिम्मेदार आदमी बाहर रहा था, तब वह अकेली समूची लड़ाईको संभाले हुए थी। स्थिति यह थी कि लाखोंका हिसाब उसके हाथमें, सारा पत्र-व्यवहार उसके हाथमें और 'इण्डियन ओपीनियन' भी उसके हाथमें। फिर भी वह थकना तो जानती ही न थी।

७५. 'इण्डियन ओपीनियन'

इसी अरसेमें श्री मदनजीतने 'इण्डियन ओपीनियन' अखबार निकालनेका विचार किया। मेरी सलाह और सहायता मांगी। छापाखाना तो वे चला ही रहे थे। अखबार निकालनेके उनके विचारसे मैं सहमत हुआ। सन् १९०४ में इस अखबारका जन्म हुआ। मनसुखलाल नाजर सम्पादक बने। किन्तु सम्पादनका असह्य बोझ मुझ पर ही पड़ा। मेरे भाग्यमें हमेशा दूरसे ही अखबारकी व्यवस्था संभालनेका योग रहा है।

यह अखबार साप्ताहिक था। मैंने यह न सोचा था कि इसमें मुझे कुछ पैसे डालने होंगे। लेकिन कुछ ही समयमें मैंने देखा कि अगर मैं पैसे न दूं, तो अखबार चल ही नहीं सकता। मैं उसमें पैसे उंड़ेलता गया। मुझे ऐसे समयकी याद है, जब मुझको हर महीने ७५ पौंड भेजने पड़ते थे।

किन्तु इतने वर्षोंके बाद मुझे लगता है कि इस अखबारने कौमकी अच्छी सेवा की है। इससे धन कमानेका इरादा तो शुरूसे ही किसीका न था।

जब तक वह मेरे अधीन था, उसमें किये गये परिवर्तन मेरे जीवनमें हुए परिवर्तनोंके द्योतक थे। उसमें मैं प्रति सप्ताह अपनी आत्मा उंड़ेलता था और जिसे मैं सत्याग्रहके रूपमें पहचानता था उसे समझानेका प्रयत्न करता था। जेलके समयोंको छोड़कर दस वर्षोंके, अर्थात् सन् १९१४ तकके, 'इण्डियन ओपीनियन' का शायद ही कोई अंक ऐसा होगा, जिसमें मैंने कुछ लिखा न हो। इसमें मैंने एक भी शब्द बिना विचारे, बिना तौले लिखा हो, या किसीको केवल खुश करनेके लिए लिखा हो, अथवा जान-बूझकर अतिशयोक्ति की हो, ऐसा मुझे याद नहीं आता। मेरे लिए यह अखबार

संयमकी तालीम सिद्ध हुआ था। उसके बिना सत्याग्रहकी लड़ाई चल ही नहीं सकती थी।

इस अखबारके जरिये मैं मनुष्यके रंग-बिरंगी स्वभावको बहुत-कुछ जान पाया। सम्पादक और ग्राहकके बीच निकटका और स्वच्छ सम्बन्ध स्थापित करनेकी ही धारणा होनेसे मेरे पास हृदय उंड़ेलनेवाले पत्रोंका ढेर लग जाता था। उन्हें पढ़ना, उन पर विचार करना, उनमें से विचारोंका सार लेकर उत्तर देना, यह सब मेरे लिए शिक्षाका उत्तम साधन बन गया था। मैं सम्पादकके दायित्वको भलीभांति समझने लगा और मुझे कौमके लोगों पर जो प्रभुत्व प्राप्त हुआ, उसके कारण भविष्यमें होनेवाली लड़ाई हो सकी, वह सुशोभित हुई और उसे शक्ति मिली।

'इण्डियन ओपीनियन' के पहले महीनेके कारबारसे ही मैं इस परिणाम पर पहुंच गया था कि समाचारपत्र सेवाभावसे ही चलाने चाहिये। समाचारपत्र एक जबरदस्त शक्ति है। परन्तु जिस प्रकार निरंकुश पानीका प्रवाह गांवके गांव डुबो देता है और फसलको नष्ट कर देता है, उसी प्रकार निरंकुश कलमका प्रवाह भी नाशकी सृष्टि करता है। यदि ऐसा अंकुश बाहरसे आता है, तो वह निरंकुशतासे भी अधिक विषैला सिद्ध होता है। अंकुश अन्दरका ही लाभदायक हो सकता है।

७६. 'कुली लोकेशन'

हिन्दुस्तानमें हम अपनी बड़ी-से-बड़ी समाज-सेवा करनेवाले ढेढ़-भंगी इत्यादिको गांवके बाहर अलग रखते हैं। गुजरातीमें उनकी बस्तीको 'ढेढवाडा' कहते हैं और उनका नाम लेनेमें हमें घृणा मालूम होती है। इसी प्रकार ख्रिस्ती यूरोपमें एक जमाना ऐसा था जब यहूदी लोग अस्पृश्य माने जाते थे और उनके लिए जो 'ढेढवाडा' बसाया जाता था उसे 'घेटो' कहते थे। इसी तरह दक्षिण अफ्रीकामें हम हिन्दुस्तानी वहांके ढेढ़ बने हुए थे।

दक्षिण अफ्रीकामें हम 'कुली' के नामसे मशहूर हैं। यहां तो हम 'कुली' शब्दका अर्थ केवल मजदूर करते हैं। लेकिन दक्षिण अफ्रीकामें इस शब्दका जो अर्थ होता था, उसे 'ढेढ़', 'पंचम' इत्यादि तिरस्कारवाचक शब्दों द्वारा ही सूचित किया जा सकता है। वहां 'कुलियों' के रहनेके लिए जो अलग जगह रखी जाती है, वह 'कुली लोकेशन' कहलाती है। जोहानिसबर्गमें ऐसा एक लोकेशन था। वहां निन्यानवे वर्षके लिए जमीन पट्टे पर दी गई थी। उसमें हिन्दुस्तानियोंकी आबादी अत्यन्त घनी थी। बस्ती बढ़ती थी, किन्तु लोकेशन नहीं बढ़ सकता था।

सफाईकी रक्षा करनेवाले विभागकी अक्षम्य असावधानीसे और हिन्दुस्तानी वाशिन्दोंके अज्ञानके कारण निश्चय ही आरोग्यकी दृष्टिसे लोकेशनकी स्थिति खराब थी। उक्त विभागने उसे नष्ट करनेका निश्चय किया और वहांकी धारासभासे जमीन पर कब्जा करनेकी सत्ता प्राप्त की।

वहां रहनेवाले लोग अपनी जमीनके मालिक थे, इसलिए उनको कुछ-न-कुछ नुकसानी तो देना जरूरी ही था। नुकसानीकी रकम निश्चित करनेके लिए एक खास अदालत कायम हुई थी।

अधिकांश दावोंमें मकान-मालिकोंने मुझे अपना वकील किया था। मुझे इस कामसे धन पैदा करनेकी इच्छा न थी। मैंने उनसे कह दिया था — "आप चाहे हारें, चाहे जीतें, मुझे पट्टे पीछे दस पौंड देंगे तो काफी होगा।" मैंने उन्हें बताया कि इसमें से भी आधोआध रकम गरीबोंके लिए अस्पताल बनाने या ऐसे ही किसी सार्वजनिक काममें खर्च करनेके लिए अलग रखनेका मेरा इरादा है। यह सुनकर सब बहुत खुश हुए।

इन लोगोंने अपने खास दुःखोंको मिटानेके लिए स्वतंत्र हिन्दुस्तानी व्यापारी वर्गके मंडलसे भिन्न एक मंडलकी रचना की थी। उसमें कुछ बहुत शुद्ध हृदयके, उदार भावनावाले और चरित्रवान हिन्दुस्तानी भी थे। उनके द्वारा मैं उत्तर-दक्षिणके अनगिनत हिन्दुस्तानियोंके गाढ़ संपर्कमें आया और केवल उनका वकील ही नहीं, बल्कि भाई बनकर भी रहा। सेठ अब्दुल्लाने मुझे 'गांधी' नामसे पहचाननेसे इनकार किया। उन्होंने एक अतिशय प्रिय नाम खोज लिया। वे मुझे 'भाई' कहकर पुकारने लगे। दक्षिण अफ्रीकामें अन्त तक मेरा यही नाम रहा। लेकिन जब ये गिरमिट-मुक्त हिन्दुस्तानी मुझे 'भाई' कहकर पुकारते, तो मुझे उसमें विशेष मिठास मालूम होती थी।

७७. महामारी – १

इस लोकेशनकी मालिकीका पट्टा म्युनिसिपैलिटीने ले लिया, तो वहां रहनेवाले हिन्दुस्तानियोंको तुरन्त ही हटाया नहीं गया। लेकिन दो परिवर्तन हुए। हिन्दुस्तानी लोग मालिक न रहकर म्युनिसिपल विभागके किरायेदार बने और गन्दगी बढ़ी।

इसके कारण हिन्दुस्तानियोंके दिलोंमें बेचैनी थी ही। इतनेमें अचानक महामारी फूट निकली। यह महामारी प्राग-घातक थी। यह फेफड़ोंकी बीमारी थी। गांठवाली महामारीकी तुलनामें यह अधिक भयंकर मानी जाती थी। महामारीका आरंभ सोनेकी एक खानसे हुआ था। वहां अधिकतर हबशी लोग

काम करते थे। कुछ हिन्दुस्तानी भी थे। उनमेंसे २३ आदमियोंको अचानक छूत लगी और भयंकर महामारीके शिकार बनकर वे लोकेशनमें अपने घर रहने आये।

उस समय भाई मदनजीत 'इण्डियन ओपीनियन' के ग्राहक बनाने और चन्दा वसूल करने आये थे। ये बीमार उनके देखनेमें आये और उनका हृदय व्यथित हुआ। उन्होंने मुझे चिट्ठी भेजकर तुरन्त आनेको लिखा।

मदनजीतने एक खाली मकानका ताला निधड़क तोड़ डाला और उसे अपने कब्जेमें लेकर उसमें इन बीमारोंको रखा। मैं अपनी साइकल पर लोकेशन पहुंचा। वहांसे टाउन-क्लार्कको सब हाल भेजा।

डॉ० विलियम गॉडफ्रेको खबर मिलते ही वे दौड़े आये और बीमारोंके डॉक्टर तथा नर्सका काम करने लगे।

अनुभवके सहारे मेरा यह विश्वास बना है कि भावना शुद्ध हो, तो संकटका सामना करनेके लिए सेवक और साधन मिल ही जाते हैं। मेरे ऑफिसमें चार हिन्दुस्तानी थे। उन्हें कारकुन कहो, साथी कहो या पुत्र कहो, मैंने उन्हें होमनेका निश्चय किया।

शुश्रूषाकी वह रात भयंकर थी। डॉक्टरकी हिम्मतने हमें निडर बना दिया। बीमारोंकी अधिक सेवा-टहल हो सके, वैसी स्थिति न थी। चारों नौजवानोंकी तनतोड़ मेहनत और निडरता देखकर मेरे हर्षका पार न रहा। उस रात हमने किसी बीमारको न खोया।

७८. महामारी – २

दूसरे दिन म्युनिसिपैलिटीने एक खाली गोदामका कब्जा मुझे दिया और बीमारोंको वहां ले जानेकी सूचना की। हमने खुद ही उसे साफ किया और वहां तत्काल काम देनेवाला एक अस्पताल खड़ा कर दिया।

हम नर्सको क्वचित् ही बीमारोंको छूने देते थे। नर्स स्वयं छूनेको तैयार थी। लेकिन हमारी कोशिश यह थी कि उसे जोखिममें न डालें।

बीमारोंको सभय-समय पर ब्रांडी देनेकी सूचना थी। छूतसे बचनेके लिए नर्स हमें भी थोड़ी ब्रांडी लेनेको कहती और खुद भी लेती। हममें से कोई ब्रांडी लेनेवाला न था। डॉक्टरकी इजाजतसे तीन बीमारों पर, जो ब्रांडीके बिना रहनेको तैयार थे और मिट्टीके प्रयोग करने देनेको राजी थे, मैंने मिट्टीका प्रयोग शुरू किया, और उनके माथे और छातीमें जहां-जहां दर्द

होता था वहां मिट्टी रखना शुरू किया। इन तीन बीमारोंमें से दो बचे। बाकीके सब बीमारोंका देहान्त हो गया।

जोहानिसबर्गसे सात मील दूर संक्रामक रोगियोंका एक अस्पताल था। वहां तंबू खड़े किये गये और जो लोग महामारीकी चपेटमें आये, उन्हें वहां ले जानेकी व्यवस्था की गई। हम इस कामसे मुक्त हुए। कुछ ही दिनोंमें उस भली नर्सको महामारी हुई और उसका देहान्त हो गया। यह तो कोई नहीं कह सकता कि वे बीमार क्योंकर बचे और हमारे बीमारीसे मुक्त रहनेका कारण क्या रहा। किन्तु मिट्टीके उपचार पर मेरी श्रद्धा और दवाके रूपमें भी शराबके उपयोगके बारेमें मेरी अश्रद्धा बढ़ी। मैं जानता हूं कि यह श्रद्धा और अश्रद्धा दोनों बेबुनियाद मानी जायंगी। परंतु उस समय मुझ पर जो छाप पड़ी और जो अभी तक बनी हुई है, उसे मैं मिटा नहीं सकता।

इस महामारीके शुरू होते ही मैंने अखबारोंमें इसके बारेमें एक बड़ा पत्र लिखा था। उस पत्रकी बदौलत मुझे मि० हेनरी पोलाक मिले और वह पत्र ही जोसेफ डोककी मुलाकातका एक कारण बना।

मैं एक निरामिष भोजन-गृहमें खाने जाता था। वहां मेरा परिचय मि० आल्बर्ट वेस्टके साथ हुआ। हम हमेशा शामको उस गृहमें एकत्र होते थे और खानेके बाद साथमें घूमने निकलते थे।

एक लम्बे समयसे मेरा अपना यह नियम था कि जब आसपास महामारीकी हवा हो, तब पेट जितना हलका रहे उतना ही अच्छा। इसलिए मैंने शामका खाना बन्द कर दिया था और दोपहरको ऐसे समय पहुंचकर खा आता था, जब कि दूसरे कोई पहुंचे न होते थे। चूंकि मैं महामारीके बीमारोंकी सेवामें लगा था, इसलिए दूसरोंके संपर्कमें कम-से-कम आना चाहता था।

मुझे भोजन-गृहमें न देखनेके कारण दूसरे या तीसरे ही दिन सवेरेके समय वेस्टने मेरे कमरेका दरवाजा खटखटाया। दरवाजा खोलते ही वे बोले :

"आपको भोजन-गृहमें न देखकर मैं तो घबरा उठा था। इसलिए यह सोचकर कि इस वक्त आप मिल ही जायंगे, मैं यहां आया हूं। मेरे कर सकने योग्य कोई मदद हो तो मुझसे कहिये। मैं बीमारोंकी सेवा-शुश्रूषाके लिए भी तैयार हूं।"

मैंने कहा — "आपको नर्सके रूपमें तो मैं कभी न लूंगा। अगर नये बीमार न निकले, तो हमारा काम एक-दो दिनमें ही पूरा हो जायगा। लेकिन एक काम अवश्य है।"

"कौनसा ?"

"क्या आप डरबन पहुंचकर 'इण्डियन ओपीनियन' के प्रेसका प्रबन्ध अपने हाथमें लेंगे?" उन्होंने अन्तिम उत्तर शाम तक देनेको कहा।

उसी दिन शामको थोड़ी बातचीत की। वेस्टको हर महीने १० पौंडका वेतन और छापाखानेमें कुछ मुनाफा हो तो उसका अमुक भाग देनेका निश्चय किया। दूसरे ही दिन रातकी मेलसे वेस्ट डरबनके लिए रवाना हुए और अपनी उगाहीका काम मुझे सौंपते गये। उस दिनसे लेकर मेरे दक्षिण अफ्रीका छोड़नेके दिन तक वे मेरे सुख-दु:खके साथी रहे।

७९. लोकेशनकी होली

लोकेशनकी स्थितिके बारेमें म्युनिसिपैलिटी भले ही लापरवाह हो, किन्तु गोरे नागरिकोंके आरोग्यके विषयमें तो वह चौवीस घण्टे जाग्रत रहती थी। उनके आरोग्यकी रक्षाके लिए खर्च करनेमें उसने कोई कसर न रखी, और इस मौके पर महामारीको आगे बढ़नेसे रोकनेके लिए तो उसने पानीकी तरह पैसे बहाये। उसके इस शुभ प्रयत्नमें मुझसे जितनी मदद बन पड़ी उतनी मैंने दी। मैं मानता हूं कि यदि मैंने वैसी मदद न दी होती, तो म्युनिसिपैलिटीके लिए काम मुश्किल हो जाता; कदाचित् वह वन्दूकके बलका उपयोग करती और अपना चाहा सिद्ध करती।

लेकिन वैसा कुछ हो नहीं पाया। हिन्दुस्तानियोंके व्यवहारसे म्युनिसिपैलिटीके अधिकारी खुश हुए। म्युनिसिपैलिटीकी मांगोंके अनुकूल बरताव करानेमें मैंने हिन्दुस्तानियों पर अपने प्रभावका पूरा-पूरा उपयोग किया।

लोकेशनके आसपास पहरा बैठ गया। विना इजाजत न कोई लोकेशनके बाहर जा सकता था, और न बिना इजाजत कोई अन्दर घुस सकता था। मुझे और मेरे साथियोंको स्वतंत्रतापूर्वक अन्दर जानेके परवाने दिये गये थे। म्युनिसिपैलिटीका इरादा यह था कि लोकेशनमें रहनेवाले सब लोगोंको तीन हफ्तेके लिए जोहानिसवर्गसे तेरह मील दूर एक खुले मैदानमें तंबू गाड़कर बसाया जाय और लोकेशनको जला डाला जाय।

लोग बहुत घबराये। लेकिन चूंकि मैं उनके साथ था, इसलिए उन्हें तसल्ली थी। इनमें से बहुतेरे गरीब अपने पैसे अपने घरोंमें गाड़कर रखते थे। बैंकका तो वे नाम भी न जानते थे। मैं उनका बैंक बना। ऐसे समय मैं कोई मेहनताना तो ले ही नहीं सकता था। जैसे-तैसे मैंने इस कामको पूरा किया। अपने बैंकके मैनेजरसे मेरी अच्छी जान-पहचान थी। मैंने उनसे कहा कि मुझे उनके पास बैंकमें बहुतसी रकम जमा करनी होगी। मैनेजरने

मेरे लिए सब प्रकारकी सुविधा कर दी। तय हुआ कि जन्तु-नाशक पानीसे धोकर पैसे बैंकमें भेज दिये जायं। लोकेशनमें रहनेवालोंको एक स्पेशल ट्रेनमें क्लिपस्प्रुट फार्म पर ले गये। वहां उनके लिए सीधे-सामानकी व्यवस्था म्युनिसिपैलिटीने की। लोगोंको मानसिक दुःख हुआ। नया नया-सा लगा। लेकिन कोई खास तकलीफ नहीं उठानी पड़ी। मैं हर रोज एक बार साइकल पर वहां हो आता था। इस प्रकार तीन हफ्ते खुली हवामें रहनेसे लोगोंके स्वास्थ्यमें सुधार अवश्य हुआ और मानसिक दुःखको तो वे पहले चौबीस घण्टोंके अन्दर ही भूल गये। अतएव बादमें वे आनन्दसे रहने लगे।

जिस दिन लोकेशन खाली किया गया, उसके दूसरे दिन उसकी होली की गई। म्युनिसिपैलिटीने उसकी एक भी चीजको बचानेका लोभ न किया। इसका परिणाम यह हुआ कि महामारी आगे बढ़ ही न पाई और शहर निर्भय बना।

८०. एक पुस्तकका चमत्कारी प्रभाव

इस महामारीने गरीब हिन्दुस्तानियों पर मेरे प्रभुत्वको, मेरे धन्धेको और मेरी जिम्मेदारीको बढ़ा दिया। साथ ही यूरोपियनोंके बीच मेरी बढ़ती हुई कुछ जान-पहचान भी इतनी निकटकी होती गई कि उसके कारण भी मेरी नैतिक जिम्मेदारी बढ़ने लगी।

जिस तरह वेस्टसे मेरी जान-पहचान निरामिषाहारी भोजन-गृहमें हुई, उसी तरह पोलाककी बात बनी। उनकी शुद्ध भावनासे मैं उनकी ओर आकर्षित हुआ। पहली ही रातमें हम एक-दूसरेको पहचानने लगे और जीवनविषयक अपने विचारोंमें हमें बहुत साम्य दिखाई पड़ा।

'इण्डियन ओपीनियन' का खर्च बढ़ता जाता था। वेस्टका पहला ही विवरण मुझे चौंकानेवाला था। इस काममें न व्यवस्था थी, न मुनाफा था।

मैं जानता था कि इस नई जानकारीके कारण वेस्टकी दृष्टिमें मेरी गिनती उन लोगोंमें हुई होगी, जो जल्दी दूसरोंका विश्वास कर लेते हैं। सत्यके पुजारीको बहुत सावधानी रखनी चाहिये। पूरे विश्वासके बिना किसीके मन पर आवश्यकतासे अधिक प्रभाव डालना भी सत्यको लांछित करना है। इस बातको जानते हुए भी जल्दीमें विश्वास करके काम लेनेकी अपनी प्रकृतिको मैं ठीकसे सुधार नहीं सका। इसमें मैं हैसियतसे अधिक काम करनेके लोभका दोष देखता हूं। इस लोभके कारण मुझे जितना बेचैन होना पड़ा है, उसकी अपेक्षा मेरे साथियोंको कहीं अधिक बेचैन होना पड़ा है। वेस्टका ऐसा पत्र

आनेसे मैं नातालके लिए रवाना हुआ। पोलाक तो मेरी सब बातें जानने लगे ही थे। वे मुझे स्टेशन तक छोड़ने आये और यह कहकर कि "यह पुस्तक रास्तेमें पढ़ने योग्य है, इसे पढ़ जाइये, आपको पसन्द आयेगी।" उन्होंने रस्किनकी 'अन्टु दिस लास्ट' मेरे हाथमें रख दी।

इस पुस्तकको हाथमें लेनेके बाद मैं उसे छोड़ ही न सका। उसने मुझे जकड़ लिया। ट्रेन शामको डरबन पहुंचती थी। पहुंचनेके बाद मुझे सारी रात नींद नहीं आई। मैंने पुस्तकमें सूचित विचारोंको अमलमें लानेका इरादा किया।

मेरा पुस्तकीय ज्ञान बहुत ही कम है। इस अनायास या बरबस पाले गये संयमसे मुझे कोई नुकसान नहीं हुआ। किन्तु जो थोड़ी पुस्तकें मैंने पढ़ी हैं, उन्हें मैं ठीकसे हजम कर सका हूं। ऐसी पुस्तकोंमें जिसने मेरे जीवनमें तत्काल महत्त्वके रचनात्मक परिवर्तन कराये, वैसी तो यही एक पुस्तक कही जा सकती है। बादमें मैंने उसका तरजुमा किया और वह 'सर्वोदय' के नामसे छपा।

मेरा यह विश्वास है कि जो चीज मेरे अन्दर गहराईमें छिपी पड़ी थी, रस्किनके इस ग्रन्थरत्नमें मैंने उसका स्पष्ट प्रतिबिम्ब देखा। इस कारण उसने मुझ पर अपना साम्राज्य जमाया और मुझसे उसमें दिये गये विचारोंको क्रियान्वित कराया।

मैं 'सर्वोदय' के सिद्धान्तोंको इस प्रकार समझा हूं:

१. सबकी भलाईमें अपनी भलाई निहित है।

२. वकील और नाई दोनोंके कामकी कीमत एकसी होनी चाहिये; क्योंकि आजीविकाका हक सबके लिए एक समान है।

३. सादा मजदूरीका, किसानका जीवन ही सच्चा जीवन है।

पहली चीजको मैं जानता था। दूसरीको मैं धुंधले रूपमें देखता था। तीसरीका मैंने विचार ही नहीं किया था। 'सर्वोदय' ने मुझे दीयेकी तरह दिखा दिया कि पहलेमें दूसरे दोनों सिद्धान्त समाये हुए हैं। सवेरा हुआ और मैं इस पर अमल करनेके प्रयत्नमें लगा।

८१. फीनिक्सकी स्थापना

सुबह वेस्टके साथ बातचीत करके मैंने सुझाया कि 'इण्डियन ओपीनियन' को एक खेत पर ले जाना चाहिये। वहां सब अपने खान-पानके लिए आवश्यक खर्च समान रूपसे लें, सब अपनी खेती करें और बाकीके वक्तमें 'इण्डियन ओपीनियन' का काम करें। वेस्टने इस सुझावको स्वीकार किया।

प्रेसमें कोई दस आदमी काम करनेवाले थे। मैंने उनसे बातचीत शुरू की। दो आदमी संस्थामें शामिल होनेको तैयार हुए। दूसरोंने कबूल किया कि मैं जहां प्रेस ले जाऊंगा वहां वे आवेंगे।

तुरन्त ही मैंने डरबनसे तेरह मील और फीनिक्ससे ढाई मील दूर एक जमीन एक हजार पौंडमें खरीदी। वहां कारखाना खड़ा किया और रहनेके घर बनाये। सगे-सम्बन्धी आदि जो धन कमानेकी उमंगसे दक्षिण अफ्रीका आये थे, उनको मैंने अपने मतमें मिलाने और फीनिक्समें भरती करनेकी कोशिश शुरू की। कुछ लोग समझे। उन सबमें से आज मैं मगनलाल गांधीका नाम अलगसे लेता हूं। अपने धंधेको समेटकर जबसे वे मेरे साथ आये हैं तबसे बराबर टिके हुए हैं। अपने बुद्धिबलसे, त्यागवृत्तिसे तथा अनन्य भक्तिसे वे मेरे आन्तरिक प्रयोगोंके आरंभके साथियोंमें आज प्रधान पदके अधिकारी हैं तथा स्वयं-शिक्षित कारीगरके नाते मेरे विचारमें वे उनके बीच अद्वितीय स्थान रखते हैं।

इस प्रकार सन् १९०४ में फीनिक्सकी स्थापना हुई।

८२. पोलाक

मेरे लिए यह हमेशा दुःखकी बात रही है कि फीनिक्स-जैसी संस्थाकी स्थापना करनेके बाद मैं स्वयं उसमें बहुत ही कम रह सका। उसकी स्थापनाके समय मेरी कल्पना यह थी कि मैं भी वहीं जा बसूंगा, अपनी आजीविका उसमें से प्राप्त करूंगा, धीमे-धीमे वकालत छोड़ दूंगा, फीनिक्समें रहते हुए जो सेवा बन पड़ेगी सो करूंगा और फीनिक्सकी सफलताको ही सेवा समझूंगा। किन्तु जैसा सोचा था वैसा अमल इन विचारोंका हो ही न पाया। मैंने अक्सर अपने अनुभवसे यह देखा है कि हम चाहते कुछ हैं और होता कुछ और ही है। लेकिन इसके साथ ही मैंने यह अनुभव भी किया है कि जहां सत्यकी ही साधना और उपासना होती है, वहां परिणाम चाहे हमारी धारणाके अनुसार न निकले, तो भी जो अनसोचा परिणाम निकलता है वह बुरा नहीं होता और कभी-कभी तो अपेक्षासे अधिक अच्छा होता है। फीनिक्समें जो

अनपेक्षित परिणाम निकले और फीनिक्सने जो अनपेक्षित स्वरूप धारण किया वह बुरा नहीं था, इतनी बात तो मैं निश्चयपूर्वक कह सकता हूं।

संस्थाका काम अभी बिलकुल व्यवस्थित न हो पाया था कि इतनेमें इस नव-निर्मित परिवारको छोड़कर मैं जोहानिसबर्ग भागा। मेरी ऐसी स्थिति नहीं थी कि मैं वहांके कामको लम्बे समयके लिए छोड़ सकता।

फीनिक्ससे लौटकर मैंने पोलाकको इस महत्त्वके परिवर्तनकी बात सुनाई। अपनी दी हुई पुस्तकका यह परिणाम देखकर उनके आनन्दका पार न रहा। वे भी फीनिक्स पहुंच गये।

किन्तु मैं ही उनको लम्बे समय तक वहां रख न पाया। मि० रीचने विलायत जाकर कानूनकी पढ़ाई पूरी करनेका निश्चय किया। फलतः मैंने पोलाकको सुझाया कि वे ऑफिसमें रहें और वकीलका काम करें। मैंने सोचा यह था कि उनके वकील बन जानेके बाद आखिर हम दोनों फीनिक्स ही जा पहुंचेंगे।

ये सारी कल्पनायें खोटी ठहरीं। पोलाकको फीनिक्सका जीवन पसन्द था; किन्तु चूंकि मुझ पर उनका विश्वास था, इसलिए मुझसे कोई दलील न करके वे मेरे कहने पर जोहानिसबर्ग आ गये और मेरे ऑफिसमें वकालती कारकुनकी तरह काम करने लगे।

इस प्रकार फीनिक्सके आदर्श तक तुरन्त पहुंचनेके शुभ विचारसे मैं उसके विरोधी जीवनमें अधिकाधिक गहरा उतरता दिखाई पड़ा; और यदि ईश्वरी संकेत भिन्न न होता, तो सादे जीवनके नाम पर फैलाये गये मोह-जालमें मैं खुद ही फंस जाता।

८३. मित्रोंके विवाह

अब मैंने इस बातकी आशा छोड़ दी थी कि जल्दी ही देश जाने अथवा वहां जाकर स्थिर होनेका अवसर मिलेगा। इसलिए मैंने पत्नी और बच्चोंको बुलानेका निश्चय किया।

पोलाकको अपने साथ ही रहनेके लिए आमंत्रित किया और हम सगे भाईकी तरह रहने लगे। जिस महिलाके साथ पोलाकका विवाह हुआ, उसके साथ उनकी मित्रता तो पिछले कई वर्षोंसे थी, किन्तु पोलाक थोड़े धन-संग्रहकी बाट जोह रहे थे। मैंने दलील देते हुए कहा — "जिसके साथ हृदयकी गांठ बंध गई है, मात्र धनकी कमीके कारण उसका वियोग सहना अनुचित

है। आपके हिसावसे तो कोई गरीब आदमी विवाह कर ही नहीं सकता। फिर अब तो आप मेरे साथ रहते हैं, इसलिए घरखर्चका सवाल ही नहीं उठता। मैं तो यह इष्ट समझता हूं कि आप जल्दी ही अपना विवाह कर लें।" उन्होंने मेरी दलीलको तुरन्त ही मान लिया। भावी मिसेज़ पोलाक, जो विलायतमें थी, कुछ ही महीनोंमें विवाहके लिए जोहानिसवर्ग आ पहुंचीं। बड़े मजिस्ट्रेटके सामने उनके विवाहकी रजिस्ट्री हुई।

इस समय तक ब्रह्मचर्य-विषयक मेरे विचार परिपक्व नहीं हुए थे। इसलिए मेरा धंधा कुंआरे मित्रोंका विवाह करा देनेका था। जब वेस्टके लिए पितृ-यात्रा* करनेका समय आया तो मैंने उन्हें सलाह दी कि जहां तक वन पड़े वे अपना ब्याह करके ही लौटें। और उन्होंने उस पर अमल भी किया।

जिस तरह मैंने इन गोरे मित्रोंके ब्याह करवाये, उसी तरह हिन्दुस्तानी मित्रोंको प्रोत्साहित किया कि वे अपने परिवारोंको बुला लें। इसके कारण फीनिक्स एक छोटासा गांव बन गया।

८४. घर और शिक्षा

डरबनमें हमने जो घर बसाया था, उसमें परिवर्तन तो किये ही थे। खर्च अधिक रखा था; फिर भी झुकाव सादगीकी तरफ था। किन्तु जोहानिसबर्गमें 'सर्वोदय' के विचारोंने अधिक परिवर्तन कराये।

बैरिस्टरके घरमें जितनी सादगी रखी जा सकती थी उतनी तो रखनी शुरू कर ही दी। सच्ची सादगी तो मनकी बढ़ी। हरएक काम अपने हाथों करनेका शौक बढ़ा और बालकोंको भी उसकी तालीम देना शुरू किया।

बाजारकी रोटी खरीदनेके बदले हाथसे रोटी बनाना शुरू किया। सात पौंड खर्च करके हाथसे चलानेकी एक चक्की खरीदी। इस चक्कीको चलानेमें पोलाक, मैं और बालक मुख्य भाग लेते थे। बालकोंके लिए यह कसरत बहुत अच्छी सिद्ध हुई।

घर साफ रखनेके लिए एक नौकर था। वह कुटुम्वी-जनकी तरह रहता था और उसके काममें बालक पूरा हाथ बंटाते थे।

मैं यह तो नहीं कहूंगा कि बालकोंके अक्षर-ज्ञानके प्रति मैं लापरवाह रहा, लेकिन यह ठीक है कि मैंने उसका त्याग करनेमें संकोच न किया। उन्हें अक्षर-ज्ञान करानेकी इच्छा बहुत थी, मैं प्रयत्न भी करता था, किन्तु

* माता-पितासे मिलनेके लिए वतनकी यात्रा।

इस काममें हमेशा कोई-न-कोई विघ्न आ जाता था। उनके लिए घर पर दूसरी शिक्षाकी सुविधा नहीं की थी। यदि मैं उन्हें अक्षर-ज्ञान करानेके लिए एक घण्टा भी नियमित रूपसे बचा सका होता, तो मैं मानता कि उन्हें आदर्श शिक्षा प्राप्त हुई है। मैंने ऐसा आग्रह न रखा, इसका दुःख मुझे और उन्हें दोनोंको रह गया है। इस त्रुटिके लिए मुझे पश्चात्ताप नहीं है, अथवा है भी तो इतना ही कि मैं आदर्श पिता न बन सका। किन्तु मेरी राय यह है कि उनके अक्षर-ज्ञानका होम भी मैंने, अज्ञानसे ही क्यों न हो, सद्भावपूर्वक मानी गई सेवाके लिए किया है। मैं यह कह सकता हूं कि उनके चरित्र-निर्माणके लिए जितना कुछ आवश्यक रूपसे करना चाहिये था, सो करनेमें मैंने कहीं भी त्रुटि नहीं रखी।

८५. 'जूलू-विद्रोह'

घर बसाकर बैठनेके बाद स्थिर होकर बैठना मेरे नसीबमें रहा ही नहीं। जोहानिसबर्गमें मैं कुछ स्थिर-सा होने लगा था कि इतनेमें एक अनसोची घटना घटी। अखबारोंमें यह खबर पढ़नेको मिली कि नातालमें 'जूलू-विद्रोह' हुआ है। मुझे जूलू लोगोंसे दुश्मनी नहीं थी। 'विद्रोह' के औचित्यके विषयमें भी मुझे शंका थी। किन्तु उन दिनों मैं अंग्रेजी सल्तनतको संसारका कल्याण करनेवाली सल्तनत मानता था। मेरी वफादारी हार्दिक थी। मैंने पढ़ा कि स्वयंसेवकोंकी सेना इस विद्रोहको दबानेके लिए रवाना हो चुकी है।

मैं अपनेको नातालवासी मानता था। इस कारण मैंने गवर्नरको पत्र लिखा कि अगर जरूरत हो तो घायलोंकी सेवा करनेवाले हिन्दुस्तानियोंकी एक टुकड़ी लेकर मैं सेवाके लिए जानेको तैयार हूं। तुरन्त ही गवर्नरका स्वीकृति-सूचक जवाब मिला। उक्त पत्र लिखनेसे पहले मैंने अपना प्रबंध तो कर ही लिया था। तय यह किया था कि यदि मेरी मांग मंजूर हो जाय, तो जोहानिसबर्गके घरको उठा देंगे, मि० पोलाक अलग घर लेकर रहेंगे और कस्तूरबाई फीनिक्स जाकर रहेगी। इस योजनाको कस्तूरबाईकी पूर्ण सम्मति प्राप्त हुई।

डरबन पहुंचने पर मैंने चौबीस आदमियोंकी टुकड़ी तैयार की। इस टुकड़ीने छह हफ्ते तक सतत सेवा की।

केन्द्र पर पहुंचनेके बाद जब हमारे हिस्से मुख्यतः जूलू घायलोंकी शुश्रूषा करनेका ही काम आया तो मैं बहुत खुश हुआ। वहांके डॉक्टर

अधिकारीने हमारा स्वागत किया। उसने कहा — "कोई गोरे इन घायलोंकी सेवा करनेके लिए तैयार नहीं होते।" बीमार हमें देखकर खुश हो गये। गोरे सिपाही हमें जखम साफ करनेसे रोकनेका प्रयत्न करते; हमारे न मानने पर वे खीझते और जूलुओंके बारेमें जैसे गन्दे शब्दोंका उपयोग करते, उनसे तो कानके कीड़े झड़ जाते।

धीरे-धीरे गोरे सिपाहियोंके साथ भी मेरा परिचय हो गया और उन्होंने मुझे रोकना बन्द कर दिया। उनमें से कोई पेशेदार सिपाही न थे, बल्कि सब स्वयंसेवक थे।

जिन बीमारोंकी सेवा-शुश्रूषाका काम हमें सौंपा गया था, उन्हें कोई लड़ाईमें घायल हुए न माने। उनमें से एक हिस्सा उन कैदियोंका था, जो शकमें पकड़े गये थे। जनरलने उन्हें कोड़े लगानेकी सजा दी थी। इन कोड़ोंसे जो घाव पैदा हुए थे, वे सार-संभालके अभावमें पक गये थे। दूसरा भाग उन लोगोंका था, जो जूलुओंके मित्र माने जाते थे। इन मित्रोंको सिपाहियोंने भूलसे घायल किया था, यद्यपि इन्होंने मित्रता-सूचक चिह्न पहन रखे थे।

८६. हृदय-मंथन

'जूलू-विद्रोह' में मुझे बहुतसे अनुभव हुए और बहुत सोचनेको भी मिला। बोअर-युद्धके समय मुझे लड़ाईकी भयंकरता इतनी प्रतीत नहीं हुई थी जितनी यहां प्रतीत हुई। यहां लड़ाई नहीं, मनुष्यका शिकार हो रहा था। मुझे इसमें रहना बहुत कठिन मालूम हुआ। लेकिन मैं सब कुछ कड़वे घूंटकी तरह पी गया और मेरे हिस्से जो काम आया है वो तो केवल जूलू लोगोंकी सेवाका आया है, इस विचारके सहारे मैंने अपनी अन्तरात्माको शांत किया।

यहां वस्ती बहुत कम थी। पहाड़ों और खाइयोंमें भले, सादे और जंगली माने जानेवाले जूलू लोगोंके घास-फूसके झोंपड़ोंको छोड़कर और कुछ न था। इस कारण दृश्य भव्य मालूम होता था। जब इस निर्जन प्रदेशमें हम किसी घायलको लेकर अथवा यों ही मीलों पैदल जाते थे तब मैं सोचमें डूब जाता था।

यहां ब्रह्मचर्यके बारेमें मेरे विचार परिपक्व हुए। मैंने अपने साथियोंसे भी इसकी थोड़ी चर्चा की। मुझे अभी इस बातका साक्षात्कार तो नहीं हुआ था कि ईश्वर-दर्शनके लिए ब्रह्मचर्य अनिवार्य वस्तु है, किन्तु मैं यह स्पष्ट देख सका था कि सेवाके लिए ब्रह्मचर्य आवश्यक है। मुझे लगा कि

इस प्रकारकी सेवा तो मेरे लिए अधिकाधिक आती रहेगी; और यदि मैं भोग-विलासमें, संतानोत्पत्तिमें और संततिके पालन-पोषणमें लगा रहूंगा, तो मुझसे संपूर्ण सेवा नहीं हो सकेगी। मैं दो घोड़ों पर सवारी नहीं कर सकता। यदि पत्नी सगर्भा होती, तो मैं निश्चिन्त भावसे इस सेवामें प्रवृत्त हो ही न सकता था। ब्रह्मचर्यका पालन किये बिना परिवारकी वृद्धि करते रहना समाजके अभ्युदयके लिए किये जानेवाले प्रयत्नका विरोध करनेवाली वस्तु बन जाती है। विवाहित होते हुए भी ब्रह्मचर्यका पालन किया जाय, तो परिवारकी सेवा समाज-सेवाकी विरोधी न बने। मैं इस प्रकारके विचार-चक्रमें फंस गया और ब्रह्मचर्यका व्रत लेनेके लिए कुछ अधीर भी बन गया। इन विचारोंसे मुझे एक प्रकारका आनन्द हुआ और मेरा उत्साह बढ़ा। कल्पनाने सेवाके क्षेत्रको बहुत विशाल बना दिया।

फीनिक्स पहुंचकर मैंने यह व्रत ले लिया कि अबसे आगे जीवनभर ब्रह्मचर्यका पालन करूंगा। उस समय मैं इस व्रतके महत्त्व और उसकी कठिनाइयोंको पूरी तरह समझ न सका था। इसकी कठिनाइयोंका अनुभव तो मैं आज तक करता रहता हूं। इसके महत्त्वको मैं दिन-दिन अधिकाधिक समझता जाता हूं।

ब्रह्मचर्यका प्रारंभ शारीरिक अंकुशसे होता है। किन्तु शुद्ध ब्रह्मचर्यमें तो विचारकी मलिनता भी न रहनी चाहिये। संपूर्ण ब्रह्मचारीको स्वप्नमें भी विकारी विचार नहीं आते; और जहां तक विकारी सपने आते हैं, वहां तक यह मानना चाहिये कि ब्रह्मचर्य अपूर्ण है।

मुझे कायिक ब्रह्मचर्यके पालनमें भी महान कष्ट सहना पड़ा है। आज यह कहा जा सकता है कि मैं उसके विषयमें निर्भय बना हूं। लेकिन मुझे अपने विचारों पर जो जय प्राप्त करनी चाहिये, सो मुझे मिल नहीं सकी है। मुझे नहीं लगता कि मेरे प्रयत्नमें न्यूनता रहती है। लेकिन मैं अभी तक यह नहीं समझ सका हूं कि हम जिन विचारोंको नहीं चाहते, वे हम पर कहांसे और किस प्रकार हमला करते हैं। मुझे इसमें सन्देह नहीं है कि मनुष्यके पास विचारोंको भी रोकनेकी चाबी है। लेकिन अभी तो मैं इस निर्णय पर पहुंचा हूं कि यह चाबी भी हरएकको अपने लिए खुद ही खोज लेनी है।

इस प्रकार जिस ब्रह्मचर्यका पालन मैं इच्छा अथवा अनिच्छासे सन् १९०० से करता आया हूं, उसका व्रतपूर्वक आरंभ सन् १९०६ के मध्यसे हुआ।

८७. आहारके अधिक प्रयोग

मन-वचन-कायासे ब्रह्मचर्यका पालन कैसे हो यह मेरी एक फिकर थी; और सत्याग्रहके युद्धके लिए अधिक-से-अधिक समय किस तरह बच सके और अधिक शुद्धि किस प्रकार हो, यह दूसरी फिकर थी। इन दो फिकरोंने मुझे आहारमें अधिक संयम और अधिक फेरफार करनेके लिए प्रेरित किया। साथ ही पहले जो फेरफार मैं मुख्यतः आरोग्यकी दृष्टिसे करता था, वे अब धार्मिक दृष्टिसे होने लगे।

इसमें उपवास और अल्पाहारने अधिक स्थान लिया। जिस मनुष्यमें विषय-वासना रहती है, उसमें जीभके स्वाद भी अच्छी मात्रामें होते हैं। मेरी भी यही स्थिति थी। जननेन्द्रिय और स्वादेन्द्रिय पर काबू पानेकी कोशिशमें मुझे अनेक कठिनाइयोंका सामना करना पड़ा है और आज भी मैं यह दावा नहीं कर सकता कि मैंने दोनों पर जय प्राप्त कर ली है। मैंने अपने-आपको अत्याहारी माना है। मैंने एकादशीका फलाहार और उपवास शुरू किया। जन्माष्टमी आदि दूसरी तिथियां भी पालना शुरू किया। किन्तु संयमकी दृष्टिसे मैं फलाहार और अन्नाहारके बीच बहुत भेद न देख सका। इसलिए इन तिथियोंके दिन निराहार उपवास अथवा एकाशनको मैं अधिक महत्त्व देने लगा। साथ ही, प्रायश्चित्तादिका कोई निमित्त मिलता, तो उस निमित्तसे भी मैं एक बारका उपवास कर डालता था।

इसमें मैंने यह भी देखा कि उपवासादि जिस हद तक संयमके साधन हैं, उसी हद तक वे भोगके साधन भी बन सकते हैं। इस कारण मैं आहारकी वस्तुओंमें और उसके परिमाणमें फेरफार करने लगा। किन्तु रस तो पीछा पकड़े ही हुए थे। जिस चीजको मैं छोड़ता और उसके बदले जिसे लेता, उसमें से एक नया ही और अधिक रस पैदा हो जाता! अनुभवने मुझे सिखाया कि मनुष्यको स्वादके लिए नहीं, बल्कि शरीरके निर्वाहके लिए ही खाना चाहिये। जब प्रत्येक इन्द्रिय केवल शरीरके लिए और शरीरके द्वारा आत्माके दर्शनके लिए ही काम करती है, तब उसके रस शून्यवत् हो जाते हैं और तभी कहा जा सकता है कि वह स्वाभाविक रूपसे बरतती है।

८८. घरमें सत्याग्रह

मुझे जेलका पहला अनुभव सन् १९०८ में हुआ। उस समय मैंने देखा कि जेलमें कैदियोंसे जो कुछ नियम पलवाये जाते हैं, संयमी अथवा ब्रह्मचारीको उनका पालन स्वेच्छापूर्वक करना चाहिये। जैसे, कैदियोंको सूर्यास्तसे पहले पांच बजे खा लेना होता है। उन्हें चाय-कॉफी नहीं दी जाती। नमक खाना हो तो अलगसे लेना होता है। स्वादके लिए तो कुछ खाया ही नहीं जा सकता।

अतएव जेलसे छूटनेके बाद मैंने तुरन्त ही ये फेरफार किये। भरसक चाय पीना बन्द किया और शामको जल्दी खानेकी आदत डाली, जो आज स्वाभाविक हो गई है।

किन्तु एक ऐसा प्रसंग बन पड़ा, जिसके कारण मैंने नमकका भी त्याग किया, जो लगभग दस वर्ष तक तो अखण्ड रूपमें कायम रहा। मैंने पढ़ा था कि मनुष्यके लिए नमक खाना जरूरी नहीं है। और यह तो मुझे सूझा ही था कि नमक न खानेसे ब्रह्मचारीको लाभ होता है। मैंने यह भी पढ़ा और अनुभव किया था कि कमजोर शरीरवालेको दाल न खानी चाहिये। किन्तु मैं उन्हें छोड़ न सका था। दोनों चीजें मुझे प्रिय थीं।

शस्त्रक्रियासे कस्तूरबाईका जो रक्तस्राव बन्द हुआ था, वह फिर शुरू हो गया। किसी प्रकार बन्द ही न होता था। अकेले पानीके उपचार व्यर्थ सिद्ध हुए। दूसरी दवा करनेका आग्रह न था। मैंने उससे नमक और दाल छोड़नेकी बिनती की। बहुत मनाने पर भी वह मानी नहीं। आखिर उसने कहा — "दाल और नमक छोड़नेके लिए तो कोई आपसे कहे, तो आप भी न छोड़ेंगे।" मुझे दुःख हुआ और साथ ही हर्ष भी हुआ। मुझे अपना प्रेम उंड़ेलनेका अवसर मिला। उसके हर्षवश मैंने तुरन्त ही कहा — "मुझे बीमारी हो और वैद्य इस चीजको या दूसरी किसी चीजको छोड़नेके लिए कहे, तो मैं अवश्य छोड़ दूं। लेकिन जा, मैंने तो एक सालके लिए दाल और नमक दोनों छोड़े। तू छोड़े या न छोड़े, सो अलग बात है।"

पत्नीको बहुत पश्चात्ताप हुआ। वह कह उठी — "मुझे माफ कीजिये। आपका स्वभाव जानते हुए भी मैं कहते कह गई। अब मैं दाल और नमक नहीं खाऊंगी। लेकिन आप अपनी बात लौटा लें। यह तो मेरे लिए बहुत बड़ी सजा हो जायगी।"

मैंने कहा — "अगर तू दाल-नमक छोड़ेगी तो अच्छा ही होगा। लेकिन मैं ली हुई प्रतिज्ञा लौटा नहीं सकता। मनुष्य किसी भी निमित्तसे संयम क्यों न पाले, उससे लाभ ही होता है।"

मैं इसे सत्याग्रहका नाम देना चाहता हूं और इसको अपने जीवनकी मीठी स्मृतियोंमें से एक मानता हूं।

इसके बाद कस्तूरबाईकी तबीयत खूब संभली।

स्वयं मुझ पर तो इन दोनोंके त्यागका अच्छा ही असर हुआ। त्यागके बाद नमक अथवा दालकी इच्छा तक न रही। इन्द्रियोंकी शक्तिका मैं अधिक अनुभव करने लगा और संयमको बढ़ानेकी तरफ मन दौड़ने लगा। वैद्यक दृष्टिसे दोनों चीजोंके त्यागके विषयमें दो मत हो सकते हैं, किन्तु मुझे इसमें कोई शंका ही नहीं कि संयमकी दृष्टिसे तो इन दोनों चीजोंके त्यागमें लाभ ही है। भोगी और संयमीके आहार भिन्न होने चाहिये, उनके मार्ग भिन्न होने चाहिये। ब्रह्मचर्यका पालन करनेकी इच्छा रखनेवाले लोग भोगीका जीवन बिताकर ब्रह्मचर्यको कठिन और कभी-कभी लगभग असंभव बना डालते हैं।

८९. संयमकी ओर

अब दिन-प्रतिदिन ब्रह्मचर्यकी दृष्टिसे आहारमें परिवर्तन होते गये। इनमें पहला परिवर्तन दूध छोड़नेका हुआ। मुझे पहले-पहल रायचन्दभाईसे मालूम हुआ था कि दूध इन्द्रिय-विकार पैदा करनेवाली वस्तु है। अन्नाहार-विषयक अंग्रेजी पुस्तकोंके वाचनसे इस विचारमें वृद्धि हुई। लेकिन जब तक ब्रह्मचर्यका व्रत नहीं लिया था, तब तक दूध छोड़नेका मैं कोई खास इरादा नहीं कर सका था। यह चीज तो मैं बहुत पहलेसे समझने लगा था कि शरीरके निर्वाहके लिए दूध आवश्यक नहीं है। लेकिन वह झट छूटनेवाली चीज न थी। मैं यह अधिकाधिक समझने लगा था कि इन्द्रिय-दमनके लिए दूध छोड़ना चाहिये। इन्हीं दिनों मेरे पास कलकत्तासे कुछ साहित्य आया, जिसमें गाय-भैंस पर ग्वालों द्वारा किये जानेवाले घातक अत्याचारोंकी चर्चा थी। इस साहित्यका मुझ पर चमत्कारी प्रभाव पड़ा। मैंने इस सम्बन्धमें मि० कैलनबैकसे चर्चा की। उन्होंने दूध छोड़नेकी सलाह दी। मैंने उसका स्वागत किया। हम दोनोंने उसी क्षण टॉल्स्टॉय फार्म पर दूधका त्याग किया। यह घटना सन् १९१२ में हुई।

इतने त्यागसे हमें शांति न हुई। दूध छोड़नेके कुछ ही समय बाद केवल फलाहारके प्रयोगका निश्चय किया। फलाहारमें भी जो सस्तेसे सस्ते फल मिलें, उन्हींसे अपना गुजर चलानेका विचार था। गरीब-से-गरीब आदमी जैसा जीवन बिताता है, हम दोनोंको वैसा ही जीवन बितानेकी उमंग थी। हमने फलाहारकी सुविधाका भी खूब अनुभव किया।

यद्यपि मैंने ब्रह्मचर्यके साथ आहार और उपवासका निकट सम्बन्ध सूचित किया है, तो भी यह निश्चित है कि उसका मुख्य आधार मन पर है। मैला मन उपवाससे शुद्ध नहीं होता। आहारका उस पर प्रभाव नहीं पड़ता। मनका मैल तो विचारसे, ईश्वरके ध्यानसे और आखिर ईश्वरी प्रसादसे ही छूटता है।

जिन दिनों मैंने दूध और अनाज छोड़कर फलाहारका प्रयोग शुरू किया, उन्हीं दिनों संयमके हेतुसे उपवास भी शुरू किये। मि० कैलनबैक इसमें भी मेरे साथ हो गये। ब्रह्मचर्यके व्रतको सहारा पहुंचानेके लिए मैंने एकादशीके दिन उपवास रखनेका निश्चय किया। फलाहारी उपवास तो अब मैं हमेशा ही रखने लगा था। इसलिए मैंने पानीकी छूट रखकर पूरे उपवास शुरू किये।

मेरा अनुभव यह है कि उपवासादिसे मुझ पर तो आरोग्य और विषय-संयमकी दृष्टिसे बहुत अच्छा प्रभाव पड़ा। फिर भी मैं यह मानता हूं कि ऐसा कोई अनिवार्य नियम नहीं है कि उपवास आदिसे सब पर ऐसा प्रभाव पड़ेगा ही। इन्द्रिय-दमनके हेतुसे किये गये उपवाससे ही विषयोंको संयत करनेका परिणाम निकल सकता है। मतलब यह कि उपवासके दिनोंमें विषयको संयत करने और स्वादको जीतनेकी सतत भावना रहने पर ही उसका शुभ परिणाम निकल सकता है। संयमीके मार्गमें उपवासादि एक साधनके रूपमें आवश्यक हैं, किन्तु ये ही सब कुछ नहीं हैं। और यदि शरीरके उपवासके साथ मनका उपवास न हो, तो उसकी परिणति दम्भमें हो सकती है और वह हानिकारक सिद्ध हो सकता है।

९०. शिक्षक

टॉल्स्टॉय-आश्रममें बालकों और बालिकाओंके लिए शिक्षाका कुछ-न-कुछ प्रबन्ध करना आवश्यक था। खास इसी कामके लिए शिक्षक रखना असम्भव था और मुझे यह अनावश्यक प्रतीत हुआ। शिक्षाकी प्रचलित पद्धति मुझे पसन्द नहीं थी। सच्ची पद्धति क्या हो सकती है, इसका अनुभव मैंने नहीं पाया था। इतना मैं समझता था कि आदर्श स्थितिमें सच्ची शिक्षा तो मां-बापकी निगरानीमें ही हो सकती है। मैंने सोचा यह था कि चूंकि टॉल्स्टॉय-आश्रम एक परिवार है और मैं उसमें पिताकी जगह हूं, इसलिए इन नवयुवकोंके निर्माणकी जिम्मेदारी यथाशक्ति मुझे उठानी चाहिये।

इस कल्पनामें बहुतसे दोष तो थे ही। नवयुवक मेरे पास जन्मसे नहीं थे। सब अलग-अलग वातावरणमें पले थे। सब एक धर्मके भी न थे।

किन्तु मैंने हृदयकी शिक्षाको अर्थात् चरित्रके विकासको हमेशा पहला स्थान दिया है। और यह सोचकर कि उसका परिचय तो किसी भी उमरमें और कितने ही प्रकारके वातावरणमें पले हुए बालकों और बालिकाओंको न्यूनाधिक प्रमाणमें कराया जा सकता है, इन बालकों और बालिकाओंके साथ मैं रात-दिन पिताकी तरह रहता था। मैंने चरित्रको उनकी शिक्षाका पाया माना था। यदि पाया पक्का हो तो अवसर मिलने पर दूसरी बातें बालक किसीकी मदद लेकर अथवा अपनी ताकतसे खुद जान और समझ सकते हैं।

फिर भी मैं यह तो समझता था कि थोड़ा-बहुत अक्षर-ज्ञान तो कराना ही चाहिये, इसलिए मैंने कक्षायें शुरू कीं।

शारीरिक शिक्षाकी आवश्यकताको मैं समझता था। यह शिक्षा उन्हें सहज ही मिल रही थी।

आश्रममें नौकर तो थे ही नहीं। पाखाना-सफाईसे लेकर रसोई बनाने तकके सारे काम आश्रमवासियोंको ही करने होते थे। फलोंके पेड़ बहुत थे। नई बोनी करनी ही थी। छोटे-बड़े सबको, जो रसोईके काममें लगे न होते थे, रोज अमुक समय तक बगीचेमें काम करना ही पड़ता था। इसमें बड़ा हिस्सा बालकोंका था। इस काममें उनके शरीर भलीभांति कसे जाते थे, इसमें उन्हें आनन्द आता था और फलतः दूसरी कसरतकी या खेलकूदकी उन्हें कोई जरूरत न रहती थी।

शारीरिक शिक्षाके सिलसिलेमें ही शारीरिक धंधेकी शिक्षाका भी उल्लेख कर दूं। इरादा यह था कि सबको कोई न कोई उपयोगी धंधा सिखाया जाय। मि० कैलनबैक चप्पल बनाना सीख आये। उनसे वह मैंने सीखा और जो बालक इस धंधेको सीखनेके लिए तैयार हुए उन्हें मैंने वह सिखाया। आश्रममें बढ़ईका काम जाननेवाला एक साथी था, इसलिए यह काम भी कुछ हद तक सिखाया जाता था। रसोईका काम तो लगभग सभी बालक सीख गये।

टॉल्स्टॉय-आश्रममें शुरूसे ही यह रिवाज डाला गया था कि जिस कामको हम शिक्षक न करें, उसे बालकोंसे न कराया जाय। और बालक जिस काममें लगे हों उसमें उनके साथ उसी कामको करनेवाला एक शिक्षक हमेशा रहे। इस तरह बालकोंने जो काम सीखा; उमंगके साथ सीखा।

९१. अक्षर-ज्ञान

अक्षर-ज्ञान कराना मुझे कठिन मालूम हुआ। मेरे पास उसके लिए आवश्यक सामग्री न थी। खुद मुझे जितना मैं चाहता था उतना समय नहीं था। मुझमें इतनी योग्यता न थी। शारीरिक काम करते-करते मैं थक जाता था और जिस समय थोड़ा आराम करनेकी जरूरत होती, उसी समय पढ़ाईके वर्ग लेने होते थे।

अक्षर-ज्ञानके लिए अधिक-से-अधिक तीन घण्टे रखे गये थे। हरएक बालकको उसकी मातृभाषा द्वारा ही शिक्षा देनेका आग्रह था। सबको अंग्रेजी भी सिखाई जाती थी। इसके अलावा गुजरातके हिन्दू बालकोंको थोड़ा संस्कृतका और सब बालकोंको हिन्दीका परिचय कराया जाता था। इतिहास, भूगोल और अंकगणित सबको सिखाया जाता था। यही पाठ्यक्रम था।

आश्रमके ये सब बालक मुख्यत: निरक्षर थे और किसी पाठशालामें पढ़े हुए न थे। मैंने सिखाते-सिखाते देखा कि मुझे उन्हें सिखाना तो कम ही है। ज्यादा काम तो उनका आलस छुड़ाने, उनमें स्वयं पढ़नेकी रुचि जगाने और उनकी पढ़ाई पर निगरानी रखनेका ही है।

मुझे पाठ्य-पुस्तककी आवश्यकता कभी प्रतीत नहीं हुई। मेरा खयाल यह है कि शिक्षक ही विद्यार्थीकी पाठ्य-पुस्तक है। जिन्होंने अपने मुंहसे मुझे सिखाया था, उनकी सिखाई हुई बातोंका स्मरण आज भी बना हुआ है। बालक आंखसे जितना ग्रहण करते हैं, उसकी अपेक्षा कानसे सुनी हुई बातको वे थोड़े परिश्रमसे और बहुत अधिक मात्रामें ग्रहण कर सकते हैं।

९२. आत्मिक शिक्षा

विद्यार्थियोंके शरीर और मनको शिक्षित करनेकी अपेक्षा उनकी आत्माको शिक्षित करनेमें मुझे बहुत परिश्रम करना पड़ा है। मैं मानता था कि उन्हें अपने-अपने धर्मग्रन्थोंका साधारण ज्ञान होना चाहिये, इसलिए मैंने यथाशक्ति इस बातकी व्यवस्था की थी कि उन्हें वैसा ज्ञान मिल सके। किन्तु इसे मैं बुद्धिकी शिक्षाका अंग मानता हूं। आत्माकी शिक्षा एक भिन्न ही विभाग है। आत्माका विकास करनेका अर्थ है चरित्रका निर्माण करना, ईश्वरका ज्ञान पाना, आत्मज्ञान प्राप्त करना। इस ज्ञानको प्राप्त करनेमें बालकको बहुत अधिक मददकी जरूरत होती है और इसके बिना दूसरा ज्ञान व्यर्थ है, हानिकारक भी हो सकता है, ऐसा मेरा विश्वास था।

मैंने सुना है कि लोगोंमें यह वहम फैला हुआ है कि आत्मज्ञान चौथे आश्रममें प्राप्त होता है। लेकिन जो लोग इस अमूल्य वस्तुको चौथे आश्रम तक मुलतवी रखते हैं, वे आत्मज्ञान प्राप्त नहीं करते, बल्कि बुढ़ापा और दूसरी तरफ दयाजनक बचपन पाकर पृथ्वी पर भाररूप बनकर जीते हैं; और इस प्रकारका अनुभव व्यापक पाया जाता है।

आत्मिक शिक्षा किस प्रकार दी जाय? मैं बालकोंसे भजन गवाता, उन्हें नीतिकी पुस्तकें पढ़कर सुनाता, किन्तु इससे भी मुझे सन्तोष न होता। मैंने देखा कि यह ज्ञान पुस्तकों द्वारा तो दिया ही नहीं जा सकता। शरीरकी शिक्षा जिस प्रकार शारीरिक कसरत द्वारा दी जाती है और बुद्धिकी शिक्षा बौद्धिक कसरत द्वारा, उसी प्रकार आत्माकी शिक्षा आत्मिक कसरत द्वारा दी जा सकती है। आत्माकी कसरत शिक्षकके आचरण द्वारा ही प्राप्त की जा सकती है। इसलिए युवक हाजिर हों चाहे न हों, शिक्षकको सदा सावधान रहना चाहिये। मैं झूठ बोलूं और अपने शिष्योंको सच्चा बनानेका प्रयत्न करूं, तो वह व्यर्थ ही होगा। डरपोक शिक्षक शिष्योंको वीरता नहीं सिखा सकता। व्यभिचारी शिक्षक शिष्योंको संयम कैसे सिखा सकता है? मैंने यह समझा कि मुझे अपने पास रहनेवाले युवकों और युवतियोंके सम्मुख उदाहरण बनकर रहना चाहिये। इस प्रकार मेरे शिष्य मेरे शिक्षक बने। कहा जा सकता है कि टॉल्स्टॉय आश्रमका मेरा अधिकतर संयम इन युवकों और युवतियोंकी बदौलत था।

आश्रममें एक युवक बहुत ऊधम मचाता, झूठ बोलता और किसीसे दबता नहीं था। एक दिन उसने बहुत ही ऊधम मचाया। मैं घबरा उठा। म विद्यार्थियोंको कभी सजा न देता था। इस बार मुझे बहुत क्रोध हो आया। मैं उसके पास पहुंचा। समझाने पर वह किसी प्रकार समझता ही न था। उसने मुझे धोखा देनेका भी प्रयत्न किया। मैंने अपने पास पड़ा हुआ रूल उठाकर उसकी बांह पर दे मारा। मारते समय मैं कांप रहा था। विद्यार्थी रो पड़ा। उसने मुझसे माफी मांगी। मेरे रूलमें उसे मेरे दुःखका दर्शन हो गया। इस घटनाके बाद उसने फिर कभी मेरा सामना न किया। लेकिन उस दिन उसे रूल मारनेका पछतावा मेरे दिलमें आज तक बना हुआ है। उसे मारकर मैंने अपनी आत्माका नहीं, बल्कि अपनी पशुताका दर्शन कराया था।

मैं बालकोंको मार-पीटकर पढ़ानेका हमेशा विरोधी रहा हूं। रूलकी घटनाने मुझे इस बातके लिए अधिक सोचनेको विवश किया कि विद्यार्थीके प्रति शिक्षकका क्या धर्म है? उसके बाद युवकों द्वारा ऐसे ही दोष हुए, लेकिन मैंने फिर कभी दण्डनीतिका उपयोग नहीं किया। इस प्रकार आत्मिक ज्ञान देनेके प्रयत्नमें मैं स्वयं आत्माके गुणको अधिक समझने लगा।

९३. भले-बुरेका मिश्रण

आश्रममें कुछ लड़के बहुत ही ऊधमी और दुष्ट स्वभावके थे। कुछ आवारा थे। उन्हींके साथ मेरे तीन लड़के थे। इसी तरह पले हुए दूसरे भी बालक थे। लेकिन मि० कैलनबैकका ध्यान तो इस ओर ही था कि वे आवारा युवक और मेरे लड़के एक जगह किस तरह रह सकते हैं? एक दिन वे बोल उठे — "आपका यह तरीका मुझे जरा भी जचता नही है।"

मैंने कहा — "मैं अपने लड़कों और इन आवारा लड़कोंके बीच भेद कैसे कर सकता हूं? इस समय तो मैं दोनोंके लिए समान रूपसे जिम्मेदार हूं। ये नौजवान मेरे बुलाये यहां आये हैं। इसलिए इन्हें यहीं रखना चाहिये। दूसरे, क्या मैं आजसे अपने लड़कोंको यह भेदभाव सिखाऊं कि वे दूसरे कुछ लड़कोंके मुकाबले ज्यादा ऊंचे हैं? उनके दिमागमें इस प्रकारके विचारको ठूंसना ही उन्हें गलत रास्ते ले जाने जैसा है। आजकी स्थितिमें रहनेसे वे गढ़े जायेंगे और अपने-आप सारासारकी परीक्षा करने लगेंगे।"

यह नहीं कहा जा सकता कि इस प्रयोगका परिणाम बुरा निकला। मैं नहीं मानता कि उससे मेरे लड़कोंका कोई नुकसान हुआ है। उलटे मैं यह देख सका कि उन्हें लाभ हुआ है। अगर माता-पिताकी देखरेख ठीक हो, तो उनके भले और बुरे बच्चोंके साथ रहने और पढ़नेसे भलोंकी कोई हानि नहीं होती।

९४. प्रायश्चित्तरूप उपवास

कुछ जेलवासियोंके रिहा होने पर टॉल्स्टॉय आश्रममें थोड़े ही लोग रह गये। इनमें अधिकतर फीनिक्सवासी थे। इसलिए मैं आश्रमको फीनिक्स ले गया। फीनिक्समें मेरी बड़ी परीक्षा हुई। आश्रमवासियोंको फीनिक्समें छोड़कर मैं जोहानिसबर्ग गया। वहां कुछ ही दिन रहा था कि मेरे पास दो व्यक्तियोंके भयंकर पतनके समाचार पहुंचे। सत्याग्रहकी महान लड़ाईमें कहीं भी निष्फलता-सी दिखाई पड़ती, तो मुझे उससे कोई आघात न पहुंचता। किन्तु इस घटनाने मुझ पर वज्र-प्रहार-सा किया। मैं तिलमिला उठा। मैंने उसी दिन फीनिक्सकी गाड़ी पकड़ी। मि० कैलनबैकने मेरे साथ चलनेका आग्रह किया। पतनके समाचार मुझे उन्हींके द्वारा मिले थे।

रास्तेमें मैंने अपने धर्मको समझ लिया। मैंने अनुभव किया कि अपनी निगरानीमें रहनेवालोंके पतनके लिए अभिभावक अथवा शिक्षक न्यूनाधिक

अंशमें जिम्मेदार तो है ही। इस घटनामें अपनी जिम्मेदारी मुझे स्पष्ट प्रतीत हुई। मेरी पत्नीने मुझको सावधान तो कर ही दिया था। किन्तु स्वभावसे विश्वासी होनेके कारण मैंने पत्नीकी चेतावनी पर ध्यान नहीं दिया था। साथ ही, मुझे यह भी लगा कि जब मैं इस पतनके लिए प्रायश्चित्त करूंगा तभी ये पतित मेरे दुःखको समझ सकेंगे, उससे उन्हें अपने दोषका भान होगा और उसका कुछ-न-कुछ अन्दाज बैठेगा। अतएव मैंने सात दिनके उपवास और साढ़े चार महीनोंके एकाशनका व्रत लिया। कैलनबैकने भी मेरे साथ ऐसा ही व्रत रखनेका आग्रह किया। मैं उनके निर्मल प्रेमको रोक न सका। इस निश्चयके बाद मैं तुरन्त शांत हो गया। दोषितोंके प्रति क्रोध न रहा और उनके लिए मनमें मात्र दया ही रह गई।

मेरे उपवाससे सबको कष्ट तो हुआ, लेकिन उसके कारण वातावरण शुद्ध बना। सबको पाप करनेकी भयंकरताका बोध हुआ और विद्यार्थियों एवं विद्यार्थिनियोंके और मेरे बीचका सम्बन्ध अधिक मजबूत और सरल बन गया।

इसके कुछ समय बाद ही मुझे चौदह उपवास करनेका अवसर मिला था। मेरी यह धारणा है कि उसका परिणाम अपेक्षासे अधिक अच्छा निकला था।

इन घटनाओं परसे मैं यह सिद्ध करना नहीं चाहता कि शिष्योंके प्रत्येक दोषके लिए शिक्षकोंको हमेशा उपवास आदि करने ही चाहिये। लेकिन मैं मानता हूं कि कुछ परिस्थितियोंमें इस प्रकारके प्रायश्चित्तरूप उपवासकी गुंजाइश अवश्य है। किन्तु उसके लिए विवेक और अधिकार अपेक्षित हैं।

९५. गोखलेसे मिलने

जब सन् १९१४ में सत्याग्रहकी लड़ाई समाप्त हुई, तब गोखलेकी इच्छानुसार मुझे इंग्लैंड होते हुए हिन्दुस्तान पहुंचना था। इसलिए जुलाई महीनेमें कस्तूरबाई, कैलनबैक और मैं — तीनों विलायतके लिए रवाना हुए। सत्याग्रहकी लड़ाईके दिनोंमें मैंने तीसरे दर्जेमें सफर करना शुरू किया था। इसलिए समुद्री मार्गके लिए भी तीसरे दर्जेका टिकट कटाया।

मि० कैलनबैकको दूरबीनोंका अच्छा शौक था। दो-एक कीमती दूरबीनें उनके पास थीं। इस संबंधमें हमारे बीच रोज चर्चा होती थी। मैं उन्हें यह समझानेका प्रयत्न करता कि यह हमारे आदर्श और हम जिस सादगी तक पहुंचना चाहते हैं उसके अनुकूल नहीं है।

एक दिन इस बातको लेकर हमारे बीच जोरकी ठन गई। मैंने कहा—"हमारे बीच इस प्रकारके झगड़े हों, इससे अच्छा तो यह है कि हम इस दूरबीनको ही समुद्रमें फेंक दें और इसकी कोई चर्चा न करें।"

मि० कैलनबैकने तुरन्त ही जवाब दिया—"इस मनहूस चीजको जरूर फेंक दो।"

मैंने कहा—"मैं फेंकता हूं।"

उन्होंने उतनी ही तत्परतासे उत्तर दिया—"मैं सचमुच ही कहता हूं कि जरूर फेंक दो।"

मैंने दूरबीन फेंक दी। वह कोई सात पौंडकी थी। लेकिन उसकी कीमत जितनी दामोंमें थी उससे ज्यादा उसके प्रति रहे मि० कैलनबैकके मोहमें थी। फिर भी उन्होंने इस संबंधमें कभी दुःखका अनुभव नहीं किया। उनके और मेरे बीच ऐसे कई अनुभव होते रहते थे।

हम दोनोंके आपसी संबंधमें हमें रोज नया सीखनेको मिलता था, क्योंकि दोनों सत्यका ही अनुसरण करके चलनेका प्रयत्न करते थे। सत्यका अनुसरण करनेसे क्रोध, स्वार्थ, द्वेष इत्यादि सहज ही शांत होते थे; शांत न होते तो सत्य मिलता न था। राग-द्वेषादिसे भरा-पूरा मनुष्य सरल चाहे हो ले, वाचिक सत्यका पालन चाहे कर ले, किन्तु उसे शुद्ध सत्य मिल ही नहीं सकता। शुद्ध सत्यकी शोधका अर्थ है राग-द्वेषादि द्वंद्वसे सर्वथा मुक्ति प्राप्त करना।

जब हमने यात्रा शुरू की थी, तब मुझे उपवास समाप्त किये बहुत समय न बीता था। मुझमें पूरी शक्ति नहीं आई थी। स्टीमरमें रोज डेक पर चलनेकी कसरत करके ठीक-ठीक खाने और खाये हुए को हजम करनेका मैं प्रयत्न करता था। लेकिन इसके साथ ही मेरे पैरोंकी पिंडलियोंमें ज्यादा दर्द रहने लगा। विलायत पहुंचनेके बाद मेरा दर्द बढ़ा। विलायतमें डॉ० जीवराज मेहतासे पहचान हुई थी। उन्हें उपवास और दर्दका इतिहास सुनाने पर उन्होंने कहा—"अगर आप कुछ दिनोंके लिए पूरा आराम न करेंगे, तो पैरोंके सदाके लिए बेकार हो जानेका डर है।" इसी समय मुझे पता चला कि लम्बे उपवास करनेवालेको खोई हुई ताकत झट प्राप्त करने या बहुत खानेका लोभ कभी न करना चाहिये। उपवास करनेकी अपेक्षा उपवास छोड़नेमें अधिक सावधान रहना पड़ता है, और शायद उसमें संयम भी अधिक रखना होता है।

इंग्लैंडकी खाड़ीमें पहुंचते ही हमें लड़ाई छिड़ जानेके समाचार मिले। हम छठी अगस्तको विलायत पहुंचे।

९६. लड़ाईमें हिस्सा

विलायत पहुंचने पर पता चला कि गोखले तो पेरिसमें अटक गये हैं और कहना मुश्किल था कि वे कब तक लौटेंगे। उनसे मिले बिना मुझे देश जाना न था। इस बीच क्या किया जाय? लड़ाईके बारेमें मेरा धर्म क्या है? जेलके मेरे साथी और सत्याग्रही सोराबजी अडाजणिया विलायतमें ही बैरिस्टरीका अभ्यास करते थे। उनसे और उनकी मारफत डॉ० जीवराज मेहता इत्यादि जो लोग विलायतमें पढ़ रहे थे उनसे मैंने विचार-विमर्श किया। विलायतमें रहनेवाले हिन्दुस्तानियोंकी एक सभा बुलाई और उनके सम्मुख मैंने अपने विचार रखे। मुझे लगा कि विलायतवासी हिन्दुस्तानियोंको लड़ाईमें अपना हिस्सा अदा करना चाहिये। सभामें इसके विरुद्ध काफी दलीलें की गईं। मुझे हमारी स्थिति निरी गुलामीकी स्थिति नहीं लगती थी। मैं तो यह सोचता था कि यदि हम अंग्रेजोंके द्वारा और उनकी मददसे अपनी स्थिति सुधारना चाहते हैं, तो हमें उनके संकटके समयमें उनकी मदद करके अपनी स्थिति सुधारनी चाहिये। उनकी शासन-पद्धति दोषपूर्ण होते हुए भी मुझे उस समय उतनी असह्य नहीं मालूम होती थी जितनी आज मालूम होती है। किन्तु जिस प्रकार आज अंग्रेजोंकी शासन-पद्धति परसे मेरा विश्वास उठ गया है और इस कारण मैं आज अंग्रेजी राज्यकी मदद नहीं करता, उसी प्रकार जिनका विश्वास उस शासन-पद्धति परसे ही नहीं, बल्कि अंग्रेज अधिकारियों परसे भी उठ चुका था, वे क्योंकर मदद करनेको तैयार होते?

उन्होंने देखा कि यही वह अवसर है, जब जनताकी मांगको दृढ़तापूर्वक प्रकट करना चाहिये और शासन-पद्धतिमें सुधार करा लेनेका आग्रह रखना चाहिये। मैंने अंग्रेजोंकी इस आपत्तिके समय अपनी मांगें पेश करना ठीक न समझा और लड़ाईके समय अधिकारोंकी मांगको मुलतवी रखनेके संयममें सभ्यता और दूरदृष्टिका दर्शन किया। इसलिए मैं अपनी सलाह पर दृढ़ रहा और लोगोंसे मैंने कहा कि जिन्हें भरतीमें अपने नाम लिखाने हों वे लिखावें। काफी संख्यामें नाम लिखे गये।

इस विषयमें मैंने लॉर्ड क्रूको एक पत्र लिखा और हिन्दुस्तानियोंकी मांगको स्वीकार करनेके लिए घायल सैनिकोंकी सेवा करनेकी तालीम लेना आवश्यक माना जाय तो वैसी तालीम लेनेकी इच्छा और तैयारी प्रकट की। लॉर्ड क्रूने हिन्दुस्तानियोंकी प्रार्थना स्वीकार कर ली। घायलोंकी सार-संभाल करनेकी प्रारंभिक शिक्षा आरंभ हुई। छह हफ्तोंका छोटा-सा कोर्स था। हम करीब अस्सी आदमी इस खास कक्षामें सम्मिलित हुए थे। परीक्षा लेने पर एक ही आदमी नापास हुआ। जो पास हुए उनके लिए अब सरकारकी ओरसे कवायद आदि सिखानेका प्रबन्ध हुआ।

१७. धर्मकी पहेली

ज्यों ही यह खबर दक्षिण अफ्रीका पहुंची कि युद्धमें काम करनेके लिए हमने अपने नाम सरकारके पास भेजे हैं, त्यों ही मेरे नाम वहांसे दो तार आये। उनमें एक पोलाकका था। उसमें पूछा गया था — "क्या आपका यह कार्य अहिंसाके आपके सिद्धान्तके विरुद्ध नहीं है?"

ऐसे तारकी मुझे कुछ आशा तो थी ही, क्योंकि 'हिन्द स्वराज्य' में मैंने इस विषयकी चर्चा की थी और दक्षिण अफ्रीकामें मित्रोंके साथ तो इसकी चर्चा निरन्तर होती ही रहती थी।

जिस विचारधाराके वश होकर मैं बोअर-युद्धमें सम्मिलित हुआ था, उसीका उपयोग इस बार भी मैंने किया था। मैं इस बातको अच्छी तरह समझता था कि युद्धमें सम्मिलित होनेका अहिंसाके साथ कोई मेल नहीं बैठ सकता। किन्तु कर्त्तव्यका बोध हमेशा दीयेकी तरह स्पष्ट नहीं होता। सत्यके पुजारीको अक्सर ठोकरें खानी पड़ती हैं।

अहिंसा व्यापक वस्तु है। हम हिंसाकी होलीके बीच घिरे हुए पामर प्राणी हैं। यह वाक्य गलत नहीं है कि 'जीव जीव पर जीता है।' मनुष्य एक क्षणके लिए भी बाह्य हिंसाके बिना जी नहीं सकता। खाते-पीते, उठते-बैठते, सभी क्रियाओंमें इच्छा-अनिच्छासे कुछ-न-कुछ हिंसा तो वह करता ही रहता है। यदि वह इस हिंसासे छूटनेके लिए घोर प्रयत्न करता है, उसकी भावनामें मात्र अनुकंपा होती है, वह सूक्ष्म-से-सूक्ष्म जंतुका भी नाश नहीं चाहता और यथाशक्ति उसे बचानेका प्रयत्न करता है, तो वह अहिंसाका पुजारी है। उसकी प्रवृत्तिमें निरन्तर संयमकी वृद्धि होगी, उसमें निरन्तर करुणा बढ़ती रहेगी। किंतु देहधारी बाह्य हिंसासे सर्वथा मुक्त नहीं हो सकता।

फिर, अहिंसाकी तहमें अद्वैत-भावना निहित है। और यदि प्राणीमात्रमें अभेद हो, तो एकके पापका प्रभाव दूसरे पर पड़ता है; इस कारण मनुष्य हिंसासे बिलकुल अस्पृष्ट नहीं रह सकता। समाजमें रहनेवाला मनुष्य समाजकी हिंसामें, अनिच्छासे ही क्यों न हो, भागीदार बनता है। जब दो राष्ट्रोंके बीच युद्ध छिड़े तब अहिंसामें विश्वास रखनेवाले व्यक्तिका धर्म है कि वह उस युद्धको रोके। जो इस धर्मका पालन न कर सके, जिसमें विरोध करनेकी शक्ति न हो, जिसे विरोध करनेका अधिकार प्राप्त न हो, वह युद्ध-कार्यमें सम्मिलित हो; और सम्मिलित होते हुए भी उसमें से अपनेको, अपने देशको और साथ ही संसारको उबारनेकी हार्दिक कोशिश करे।

मुझे अंग्रेजी राज्यके द्वारा अपने राष्ट्रकी स्थिति सुधारनी थी। अगर आखिरमें मुझे उस राज्यके साथ व्यवहार बनाये रखना हो, उस राज्यके

झण्डेके नीचे रहना हो, तो या तो मुझे प्रकट रूपसे युद्धका विरोध करके उसका उस समय तक सत्याग्रहके शास्त्रके अनुसार बहिष्कार करना चाहिये, जब तक उस राज्यकी युद्धनीतिमें परिवर्तन न हो, अथवा उसके जो कानून भंग करने योग्य हों उनका सविनय भंग करके जेलकी राह पकड़नी चाहिये, अथवा मुझे उसके युद्धकार्यमें सम्मिलित होकर उसका मुकाबला करनेकी शक्ति और अधिकार प्राप्त करने चाहिये। मुझमें यह शक्ति नहीं थी। इसलिए मैंने माना कि मेरे पास युद्धमें सम्मिलित होनेका ही मार्ग बचा था।

मैंने बंदूकधारीमें और उसकी मदद करनेवालेमें अहिंसाकी दृष्टिसे कोई भेद नहीं माना। फौजमें मात्र घायलोंकी ही सार-संभाल करनेके काममें लगा हुआ व्यक्ति भी युद्धके दोषोंसे मुक्त नहीं हो सकता।

पोलाकका तार मिलते ही मैंने कुछ मित्रोंसे उसकी चर्चा की। ऊपर दिये गये अपने विचारोंका औचित्य मैं उस समय भी सब मित्रोंके सामने सिद्ध नहीं कर सका था। प्रश्न सूक्ष्म है। उसमें मतभेदके लिए अवकाश है। सत्यका आग्रही मात्र रूढ़िसे चिपट कर ही कोई काम न करे; वह अपने विचारों पर हठपूर्वक डटा न रहे; हमेशा यह मान कर चले कि उनमें दोष हो सकता है और जब दोषका ज्ञान हो जाय तब भारी-से-भारी खतरोंको उठाकर भी उसे स्वीकार करे और प्रायश्चित्त भी करे।

१८. छोटा-सा सत्याग्रह

इस प्रकार धर्म समझकर मैं युद्धमें सम्मिलित तो हुआ, लेकिन मेरे नसीबमें न सिर्फ उसमें सीधे हाथ बंटाना नहीं आया, बल्कि ऐसे नाजुक समयमें सत्याग्रह करनेकी भी नौबत आ गई।

जब हमारे नाम मंजूर हो गये और दर्ज कर लिये गये, तो हमें पूरी कवायद सिखानेके लिए एक अधिकारी नियुक्त किये गये। हम सबका खयाल यह था कि ये अधिकारी युद्धकी तालीम देने-भरके लिए हमारे मुखिया थे; बाकी सब मामलोंमें दलका मुखिया मैं था। मैं अपने साथियोंके प्रति जिम्मेदार था और साथी मेरे प्रति; अर्थात् हमारा खयाल यह था कि अधिकारीको सारा काम मेरे द्वारा लेना चाहिये। सोराबजी बहुत सयाने थे। उन्होंने मुझे सावधान किया — "भाई, ध्यान रखिये। ऐसा प्रतीत होता है कि ये सज्जन यहां अपनी जहांगीरी चलाना चाहते हैं। हमें उनके हुक्मकी जरूरत नहीं। मैं तो देखता हूं कि ये नौजवान भी मानो हम पर हुक्म चलाने आये हैं।" मैं भी सोराबजीकी कही बातको देख चुका था।

इसी अरसेमें मेरी पसलियोंमें सख्त सूजन आ गई और उसके सिलसिलेमें मुझे आखिर खटियाकी शरण लेनी पड़ी।

अधिकारीने अपना अधिकार चलाना शुरू किया। उन्होंने स्पष्ट कह दिया कि वे सब मामलोंम हमारे मुखिया हैं। सोराबजी मेरे पास आये। उनकी बातें सुनकर मैं अधिकारीके पास गया और अपने पास आई हुई सब शिकायतें उन्हें सुनाईं। मेरी बात उनके गले न उतरी और फौजी नियमोंके विरुद्ध मालूम हुई।

हमने सभा की। सत्याग्रहके गंभीर परिणाम कह सुनाये। लगभग सभीने सत्याग्रहकी शपथ ली। हमारी सभाने यह प्रस्ताव पास किया कि यदि मौजूदा अधिकारी हटाये न जायें और दलको नये अधिकारी पसन्द न करने दिये जायें, तो हमारा दल कवायदमें और कैंपमें जाना बंद करेगा।

मैंने यह हकीकत अधिकारीको लिख भेजी। भारत-मंत्रीको भी लिखा। इसके बाद तो हमारा परस्पर बहुत पत्र-व्यवहार हुआ।

अधिकारीने धमकीसे और हिकमतसे हममें फूट पैदा की। शपथ-बद्ध होते हुए भी कुछ लोग कलके या बलके वशमें हो गये। इतनेमें नेटली अस्पतालमें अनपेक्षित संख्यामें घायल सिपाही आ पहुंचे और उनकी सार-संभालके लिए हमारी समूची टुकड़ीकी आवश्यकता पड़ी। जिन्हें अधिकारी खींच सके, वे तो नेटली पहुंच गये। किन्तु दूसरे न गये। यह इंडिया-ऑफिसको अच्छा न लगा। मैं बिछौने पर पड़ा था, किन्तु दलके लोगोंसे मिलता रहता था। मैं मि० रॉबर्ट्सके सम्पर्कमें अच्छी तरह आ चुका था। वे मुझसे मिलने आये और बचे हुए लोगोंको भी भेजनेका आग्रह किया। उनका सुझाव यह था कि ये लोग एक अलग दलकी शकलम जायें। नेटली अस्पतालमें तो दलको वहांके मुखियाके अधीन रहना पड़ेगा, जिससे दल-वालोंकी मानहानि न होगी। सरकारको उनके जानेसे संतोष होगा और बड़ी संख्यामें आये हुए घायलोंकी सेवा-शुश्रूषा होगी। मेरे साथियोंको और मुझे यह सुझाव पसन्द पड़ा और बचे हुए विद्यार्थी भी नेटली गये। अकेला मैं ही लाचारीसे दांत पीसता बिछौनेमें पड़ा रहा।

९९. मेरी बीमारी

जिन दिनों मेरी पसलियोंमें सूजन आई थी, उस समय गोखले विलायत आ पहुंचे थे। कैलनबैक और मैं हमेशा उनसे मिलने जाते थे।

मेरी बीमारी चर्चाका विषय बन गई। आहारके मेरे प्रयोग तो चल ही रहे थे। डॉ० जीवराज मेहता मेरी सार-संभाल करते थे। उन्होंने दूध और अन्न खानेका बहुत आग्रह किया। शिकायत गोखले तक पहुंची। फलाहारकी मेरी दलीलके बारेमें उन्हें बहुत आदर न था; उनका आग्रह यह था कि आरोग्यकी रक्षाके लिए डॉक्टर जो कहे सो लेना चाहिये।

उनके इस आग्रहको ठुकराना मेरे लिए बहुत ही कठिन था। मैंने विचारके लिए चौबीस घण्टेका समय मांगा। कैलनबैकसे चर्चा की। लेकिन मुझे स्वयं ही अन्तर्नादका पता लगाना था।

प्रश्न यह था कि कहां तक गोखलेके प्रेमके वश होनेमें धर्म था, अथवा यह कि शरीर-रक्षाके लिए ऐसे प्रयोगोंको किस हद तक छोड़ना ठीक था। इसलिए मैंने निश्चय किया कि इन प्रयोगोंमें से जो प्रयोग केवल धर्मकी दृष्टिसे चल रहा था, उस पर कायम रहकर सब मामलोंमें डॉक्टरके वश होना चाहिये। दूधके त्यागमें धर्म-भावनाका स्थान मुख्य था। इसलिए दूधके त्याग पर डटे रहनेका निश्चय करके मैं सवेरे उठा।

शामको गोखलेसे मिलने गया। उन्होंने तुरन्त ही प्रश्न पूछा और मैंने धीरेसे जवाब दिया--"मैं सब कुछ करूंगा, किन्तु आप एक चीजका आग्रह न कीजिये। मैं दूध और दूधके पदार्थ अथवा मांसाहार नहीं लूंगा। इन्हें न लेनेसे देहपात होता हो, तो वैसा होने देनेमें मुझे धर्म मालूम होता है।" जब देखा कि यह मेरा अंतिम निर्णय है, तो उन्होंने आग्रह करना छोड़ दिया और डॉक्टरको मेरी वृत्तिके अनुसार उपचार करनेकी सूचना दी।

मैं यह देखकर घबराया कि पसलीका दर्द मिट नहीं रहा है।

सन् १८९० में मैं डॉ० एलिन्सनसे मिला था, जो आहारके परिवर्तनके सहारे बीमारियोंका इलाज करते थे। मैंने उन्हें बुलवाया। वे आये। उन्होंने मेरा आहार निश्चित कर दिया और कुछ दूसरे सुझाव भी दिये। मैंने उन पर अमल किया। इससे तबीयतमें थोड़ा सुधार हुआ। डॉक्टर दूसरी बार आये और आहारकी चीजोंमें उन्होंने फेरफार किया। इस बारका फेरफार मेरे लिए अधिक अनुकूल सिद्ध हुआ।

किन्तु दर्द बिलकुल मिटा नहीं था। सावधानीकी जरूरत थी ही। डॉक्टर मेहता समय-समय पर मुझे देख तो जाते ही थे। हमेशा ही उनसे यह सुननेको मिलता था कि 'मेरा इलाज करायें तो अभी दुरुस्त कर दूं।'

कभी-कभी लेडी रॉबर्ट्स मुझे देखने आती थीं। एक दिन मि० रॉबर्ट्स आ पहुंचे। उन्होंने मुझे देश जानेका आग्रह किया :

"इस हालतमें आप नेटली कभी नहीं जा सकेंगे। कड़ाकेकी सर्दी तो अभी आगे पड़ेगी। अब आप देश जाइये और वहां अपना स्वास्थ्य सुधारिये। अगर तब तक लड़ाई चलती रही, तो मदद करनेके बहुतेरे अवसर आपको मिलेंगे ही। अन्यथा आपने यहां जो किया है, उसे मैं कम नहीं समझता।"

मैंने उनकी इस सलाहको मान लिया और देश जानेकी तैयारी की।

१००. रवानगी

चूंकि मि० कैलनबैक जर्मन थे, इसलिए उन्हें हिन्दुस्तान आनेकी इजाजत न मिली। उनके वियोगका दुःख मुझे तो हुआ ही, लेकिन मैं यह देख सका कि मेरी अपेक्षा उन्हें अधिक दुःख हुआ।

हमने तीसरे दर्जेका टिकट कटानेका प्रयत्न किया। किन्तु पी० एण्ड ओ० की स्टीमरोंमें तीसरे दर्जेके टिकट नहीं मिलते थे, इसलिए दूसरे दर्जेके लेने पड़े।

डॉक्टर मेहताने मेरे शरीरको मीड्स प्लास्टरकी पट्टीसे बांध दिया था और सलाह दी थी कि मैं इस पट्टीको बंधी रहने दूं। दो दिन तक तो मैंने उसे सहन किया, लेकिन फिर सहन न कर सका। फलतः पट्टी उतार डाली और नहाने-धोनेके लिए छुट्टी पाई। खानेमें मुख्यतः सूखे और हरे मेवेको ही स्थान दिया। मेरी तबीयत दिन-प्रतिदिन सुधरती गई और स्वेजकी खाड़ीमें पहुंचते-पहुंचते तो बहुत अच्छी हो गई। मैंने माना कि यह शुभ परिवर्तन मात्र शुद्ध और समशीतोष्ण हवाके कारण ही हुआ है।

कुछ ही दिनोंमें हम बम्बई पहुंचे। जिस देशमें सन् १९०५ में वापस लौटनेकी आशा रखता था, उसमें मैं १० साल बाद वापस लौट सका, यह सोचकर मुझे बहुत आनन्द हुआ। बम्बईमें गोखलेने स्वागत-समारोह आदिकी व्यवस्था कर ही रखी थी। उनका स्वास्थ्य नाजुक था, फिर भी वे बम्बई आ पहुंचे थे। मैं इस उमंगके साथ बम्बई पहुंचा था कि उनसे मिलकर और अपनेको उनके जीवनमें समाकर मैं अपना भार उतार डालूंगा। किन्तु विधाताने कुछ दूसरी ही रचना कर रखी थी।

१०१. मेरी वकालत

मेरी वकालतके समयके और वकीलके नाते मेरे अपने इतने संस्मरण मेरे पास हैं कि उन्हें लिखने बैठूं, तो उन्हींकी एक पुस्तक तैयार हो जाय। किन्तु उनमें से कुछ, जो सत्यसे संबंध रखनेवाले हैं, यहां देना शायद अनुचित न माना जायगा।

वकालतके धंधेमें मैंने कभी असत्यका प्रयोग नहीं किया। वकालतका अधिकतर समय तो केवल सेवाके लिए ही समर्पित था तथा उसके लिए मैं जेब-खर्चके अलावा कुछ भी न लेता था, कभी-कभी जेब-खर्च भी छोड़ देता था।

विद्यार्थी-अवस्थामें भी मैं सुना करता था कि वकालतका धंधा झूठ बोले बिना चल ही नहीं सकता। झूठ बोलकर मैं न तो कोई पद लेना चाहता था और न पैसा कमाना चाहता था। इसलिए मुझ पर इन बातोंका कोई प्रभाव न पड़ा।

दक्षिण अफ्रीकामें कई बार इसकी कसौटी हो चुकी थी। मैं जानता था कि प्रतिपक्षके साक्षियोंको सिखाया-पढ़ाया गया है और अगर मैं मुवक्किलके साक्षीको तनिक भी झूठ बोलनेके लिए प्रोत्साहित करूं, तो मुवक्किलके केसमें कामयाबी मिल सकती है। किन्तु मैंने हमेशा इस लालचको छोड़ा है। मेरे दिलमें हमेशा यही खयाल बना रहता था कि अगर मुवक्किलका केस सच्चा हो तो उसमें कामयाबी मिले, और झूठा हो तो हार हो। मुझे याद नहीं पड़ता कि फीस लेते समय मैंने कभी हार-जीतके आधार पर फीसकी दरें तय की हों। मुवक्किल हारे चाहे जीते, मैं तो हमेशा मेहनताना ही मांगता था और जीतने पर भी उसीकी आशा रखता था। मुवक्किलको भी शुरूसे कह देता था — "मामला झूठा हो तो मेरे पास मत आना।" आखिर मेरी साख तो यही कायम हुई थी कि झूठे केस मेरे पास कभी आते ही नहीं थे।

वकालत करते समय मैंने एक ऐसी आदत भी डाली थी कि मैं अपना अज्ञान न मुवक्किलसे छिपाता था, न वकीलसे। जहां-जहां मुझे कुछ सूझ न पड़ता, वहां-वहां मुवक्किलको दूसरे वकीलके पास जानेको कहता; अथवा कोई मुझे वकील करता, तो मैं उससे कहता कि किसी अधिक अनुभवी वकीलकी सलाह लेकर मैं उसका काम करूंगा। इस शुद्धताके कारण मैं मुवक्किलोंका अखूट प्रेम और विश्वास संपादन कर सका था।

इस विश्वास और प्रेमका पूरा-पूरा लाभ मुझे अपने सार्वजनिक कार्यमें मिला।

दक्षिण अफ्रीकामें वकालत करनेका हेतु केवल लोकसेवा था। इस सेवाके लिए भी मुझे लोगोंका विश्वास संपादन करनेकी आवश्यकता थी। उदार दिलके हिन्दुस्तानियोंने पैसे लेकर की गई वकालतको भी सेवा माना, और जब मैंने उन्हें उनके हकोंके लिए जेलके दुःख सहन करनेकी सलाह दी, तब उनमें से बहुतोंने उस सलाहको ज्ञानपूर्वक स्वीकार करनेकी अपेक्षा मेरे प्रति रही अपनी श्रद्धा और प्रेमके वश ही स्वीकार किया था। सैकड़ों लोग मुवक्किल न रहकर मेरे मित्र बन गये, सार्वजनिक सेवामें मेरे सच्चे साथी बने और मेरे कठोर जीवनको उन्होंने रसमय बना दिया।

९ : देशमें स्थायी निवास

१०२. पहला अनुभव

मेरे स्वदेश आनेके पहले जो लोग फीनिक्ससे वापस लौटनेवाले थे, वे यहां आ पहुंचे थे। मैंने उन्हें लिखा था कि वे एण्ड्रूजसे मिल लें और जैसा वे कहें वैसा करें।

शुरूमें उन्हें कांगड़ी गुरुकुलमें ठहराया गया। वहां स्व० श्रद्धानन्दजीने उन्हें अपने बालकोंकी तरह रखा। इसके बाद उन्हें शान्तिनिकेतनमें रखा गया। वहां कविवरने और उनके समाजने उन्हें उतने ही प्रेमसे नहलाया।

बम्बईके बन्दरगाह पर उतरते ही मुझे पता चला कि उस समय यह परिवार शांतिनिकेतनमें था। इसलिए गोखलेसे मिलनेके बाद मैं वहां जानेको अधीर हो गया था।

बम्बईमें सम्मान स्वीकार करते समय ही मुझे एक छोटा-सा सत्याग्रह करना पड़ा था। मेरे निमित्तसे मि० पिटीटके यहां एक सभा रखी गई थी। उसमें मैं गुजरातीमें जवाब देनेकी हिम्मत न कर सका। उस महलमें और आंखोंको चौंधियानेवाले उस ठाट-बाटके बीच गिरमिटियोंकी सोहबतमें रहनेवाला मैं अपने-आपको देहाती-जैसा लगा। आजकी पोशाकके मुकाबले उस समय पहना हुआ अंगरखा, साफा आदि अपेक्षाकृत सभ्य पोशाक कही जा सकती है, फिर भी मैं उस अलंकृत समाजमें अलग ही छिटका पड़ता था। लेकिन वहां तो जैसे–तैसे मैंने अपना काम निबाहा और फीरोजशाह मेहताकी बगलमें आसरा लिया।

गुजरातियोंकी सभा तो थी ही। इस सभाके बारेमें मैंने पहलेसे कुछ बातें जान ली थीं। मि० जिन्ना भी गुजराती थे, इसलिए सभामें वे भी हाजिर थे। उन्होंने अपना छोटा और मीठा भाषण अंग्रेजीमें किया। दूसरे भाषण भी अधिकतर अंग्रेजीमें ही हुए। जब मेरे बोलनेका समय आया, तो मैंने उत्तर गुजरातीमें दिया और गुजराती तथा हिन्दुस्तानीके प्रति अपने पक्षपातको कुछ शब्दोंमें व्यक्त करके मैंने गुजरातियोंकी सभामें अंग्रेजीके उपयोगके विरुद्ध अपना नम्र विरोध प्रकट किया। मुझे यह देखकर खुशी हुई कि मैंने गुजरातीमें उत्तर देनेकी जो हिम्मत की, उसका किसीने अनर्थ नहीं किया और सबने मेरे उस विरोधको सहन कर लिया।

इस प्रकार बम्बईमें दो-एक दिन रहकर और प्रारंभिक अनुभव लेकर मैं गोखलेकी आज्ञासे पूना गया।

१०३. पूनामें

पूनामें गोखलेने और सर्वेन्ट्स ऑफ इण्डिया सोसायटीके सदस्योंने मुझे अपने प्रेमसे नहला दिया। गोखलेकी तीव्र इच्छा थी कि मैं भी सोसायटीमें सम्मिलित हो जाऊं। मैं स्वयं तो चाहता ही था। किन्तु सदस्योंको ऐसा प्रतीत हुआ कि सोसायटीके आदर्श और काम करनेकी उसकी रीति मुझसे भिन्न है। इसलिए मेरे सदस्य बनने अथवा न बननेके बारेमें उनके मनमें शंका थी।

मैंने अपने विचार गोखलेको बता दिये थे। मैं सोसायटीका सदस्य बनूं या न बनूं, तो भी मुझे एक आश्रम खोलकर उसमें फीनिक्सके साथियोंको रखना और खुद वहां बैठना था। इस विश्वासके कारण कि गुजराती होनेसे मेरे पास गुजरातके द्वारा सेवा करनेकी पूंजी अधिक होनी चाहिये, मैं गुजरातमें ही कहीं स्थिर होना चाहता था। गोखलेको यह विचार पसन्द पड़ा, इसलिए उन्होंने कहा।

“आप अवश्य ऐसा कीजिये। सदस्योंके साथकी बातचीतका जो भी परिणाम हो, यह तय है कि आपको आश्रमके लिए पैसा मुझीसे लेना है। उसे मैं अपना ही आश्रम समझूंगा।”

मेरा हृदय प्रफुल्लित हुआ। यह सोचकर मैं बहुत खुश हुआ कि मुझे पैसे उगाहनेके धंधेसे मुक्ति मिल गई; अब मुझे अपनी जवाबदारी पर नहीं चलना पड़ेगा, बल्कि हरएक परेशानीके समय मेरी रहनुमाईके लिए कोई होगा। इस विश्वासके कारण मुझे ऐसा लगा, मानो मेरे सिरका बड़ा बोझ उतर गया हो।

१०४. क्या वह धमकी थी?

बम्बईसे मुझे अपने बड़े भाईकी विधवाको और दूसरे कुटुम्बियोंको मिलनेके लिए राजकोट और पोरबन्दर जाना था, इसलिए मैं उधर गया।

बम्बईसे काठियावाड़ तीसरे दर्जेमें ही जाना था। इस यात्रामें मुझे साफा और अंगरखा उपाधिरूप प्रतीत हुए। इसलिए मैंने केवल कुर्ता, धोती और आठ-दस आनेकी काश्मीरी टोपी ही पहनी। इस तरहकी पोशाक पहननेवाला आदमी गरीब ही माना जाता था। उन दिनों वीरमगाम अथवा वढवाणमें प्लेगके कारण तीसरे दर्जेके मुसाफिरोंकी जांच होती थी। मुझे थोड़ा बुखार था। जांच करनेवाले अधिकारीने मुझे हुक्म दिया कि मैं राजकोटमें डॉक्टरसे मिलूं, और मेरा नाम लिख लिया।

वढवाण स्टेशन पर मुझे वहांके प्रसिद्ध लोक-सेवक दर्जी मोतीलाल मिले थे। उन्होंने मुझसे वीरमगामकी चुंगी-संबंधी जांच-पड़ताल और उस निमित्तसे होनेवाली कठिनाइयोंकी चर्चा की। मैंने उन्हें संक्षेपम ही जवाव दिया :

"आप जेल जानेको तैयार हैं ?"

मोतीलालने बहुत दृढ़तापूर्वक जवाव दिया :

"हम जरूर जेल जायेंगे, लेकिन आपको हमारी रहनुमाई करनी होगी।"

मोतीलाल पर मेरी आंख टिक गई। बादमें मैं उनके संपर्कमें काफी आया था। जब सत्याग्रह-आश्रम स्थापित हुआ, तो वे बिना चूके हर महीने वहां कुछ दिन आकर रह जाते थे। बालकोंको सीना सिखाते थे और आश्रमका सिलाई-काम भी कर जाते थे। वीरमगामकी बात मुझे रोज सुनाते रहते थे। ये मोतीलाल भरी जवानीमें बीमारीके शिकार बन गये।

राजकोट पहुंचने पर मैं दूसरे दिन सवेरे उस हुक्मके मुताबिक अस्पताल-में हाजिर हुआ। वहां तो मैं अपरिचित नहीं था। डॉक्टर शरमाये और जांच करनेवाले उक्त अधिकारी पर नाराज होने लगे। मुझे उस नाराजीका कोई कारण नजर न आया। अधिकारीने अपने धर्मका पालन किया था। काठियावाड़में मैं जहां-जहां भी घूमा वहां-वहां वीरमगामकी चुंगी-संबंधी जांचके सिलसिलेमें होनेवाली परेशानियोंकी शिकायतें मैंने सुनीं। मुझे इस संबंधमें जो भी सामग्री मिली उसे मैं पढ़ गया। मैंने बम्बई-सरकारसे पत्र-व्यवहार शुरू किया। मैं सेक्रेटरीसे मिला। लॉर्ड विलिंग्डनसे भी मिला। उन्होंने सहानुभूति प्रकट की, किन्तु दिल्लीकी ढिलाईकी शिकायत की।

मैंने केन्द्रीय सरकारके साथ पत्र-व्यवहार शुरू किया। जब मुझे लॉर्ड चेम्सफर्डसे मिलनेका मौका मिला, उस समय यानी करीब दो सालके पत्र-व्यवहारके बाद इस मामलेकी सुनवाई हुई। कुछ ही दिनोंमें मैंने अखबारमें चुंगी रद्द होनेका नोटिस पढ़ा।

मैंने इस जीतको सत्याग्रहकी बुनियाद माना। बम्बई-सरकारके सेक्रेटरीने बगसरामें दिये गये मेरे भाषणमें सत्याग्रहका जो उल्लेख हुआ था, उसके बारेमें मुझे पूछा :

"क्या आप इसे धमकी नहीं मानते? और क्या शक्तिशाली सरकार ऐसी धमकीकी परवाह करेगी ?"

मैंने जवाब दिया :

"यह धमकी नहीं है। यह लोकशिक्षा है। मेरे जैसे व्यक्तिका धर्म है कि वह लोगोंको अपने दुःख दूर करनेके सब वास्तविक उपाय समझाये। जो जनता स्वतंत्रता चाहती है, उसके पास अपनी रक्षाका अन्तिम उपाय होना

चाहिये। साधारणतः ऐसे उपाय हिंसक होते हैं। लेकिन सत्याग्रह शुद्ध अहिंसक शस्त्र है। मैं उसके उपयोग और उसकी मर्यादाको समझाना अपना धर्म मानता हूं। अंग्रेज सरकार शक्तिशाली है, इस विषयमें मुझे कोई शंका नहीं। किन्तु सत्याग्रह सर्वोपरि शस्त्र है, इस विषयमें भी मुझे कोई शंका नहीं।"

समझदार सेक्रेटरीने अपना सिर हिलाया और बोला — "हम देखेंगे।"

१०५. शान्तिनिकेतन

राजकोटसे मैं शान्तिनिकेतन गया। वहां शांतिनिकेतनके अध्यापकों और विद्यार्थियोंने मुझे अपने प्रेमसे नहलाया। स्वागतकी विधिमें सादगी, कला और प्रेमका सुन्दर मिश्रण था।

यहां मेरी मंडलीको अलगसे ठहराया गया था। मगनलाल गांधी उस मंडलीको संभाल रहे थे और फीनिक्स आश्रमके सब नियमोंका पालन सूक्ष्मतासे करते-कराते थे। उन्होंने अपने प्रेम, ज्ञान और उद्योगकी बदौलत शांतिनिकेतनमें अपनी सुगंध फैलाई थी।

अपने स्वभावके अनुसार मैं विद्यार्थियों और शिक्षकोंमें घुलमिल गया और स्वपरिश्रमके विषयमें चर्चा करने लगा। मैंने वहांके शिक्षकोंके सामने अपनी यह बात रखी कि वैतनिक रसोइयोंके बदले शिक्षक और विद्यार्थी अपनी रसोई स्वयं बना लें तो अच्छा हो। कुछ लोगोंको यह प्रयोग बहुत अच्छा लगा। नई चीज, फिर वह कैसी भी क्यों न हो, बालकोंको तो अच्छी लगती ही है। इस न्यायसे यह चीज भी उन्हें अच्छी लगी और प्रयोग शुरू हुआ। जब कविश्रीके सामने यह चीज रखी गई तो उन्होंने अपनी यह सम्मति दी कि यदि शिक्षक अनुकूल हों, तो स्वयं उन्हें तो यह प्रयोग अवश्य पसन्द होगा। उन्होंने विद्यार्थियोंसे कहा — "इसमें स्वराज्यकी चाबी मौजूद है।"

लेकिन मेहनतके इस कामको सवा सौ विद्यार्थी और शिक्षक भी एकदम नहीं अपना सकते थे। अतएव रोज चर्चा होती थी। कुछ लोग थक जाते थे।

आखिर कुछ कारणोंसे यह प्रयोग बन्द हो गया। मेरा यह विश्वास है कि इस जगत-विख्यात संस्थाने थोड़े समयके लिए भी इस प्रयोगको अपनाकर कुछ खोया नहीं। मैं शांतिनिकेतनमें कुछ समय रहनेका इरादा रखता था। किन्तु विधाता मुझे जबरदस्ती घसीट कर ले गया। मैं मुश्किलसे एक हफ्ता वहां रहा होऊंगा कि इतनेमें पूनासे गोखलेके अवसानका तार मिला। शांतिनिकेतन शोकमें डूब गया। सब मेरे पास समवेदनाके लिए आये। मंदिरमें विशेष सभा की गई। मैं उसी दिन पूनाके लिए रवाना हुआ। पत्नी और मगनलालको मैंने अपने साथ लिया। बाकी सब शांतिनिकेतनमें रहे।

बर्दवान तक एण्ड्रूज मेरे साथ आये थे। उन्होंने मुझसे पूछा — "क्या आपको ऐसा मालूम होता है कि हिन्दुस्तानमें सत्याग्रह करनेका अवसर आयेगा? और अगर ऐसा मालूम होता हो तो वह कब आयेगा, इसकी कोई कल्पना आपको है?"

मैंने जवाब दिया — "इसका जवाब देना मुश्किल है। अभी एक वर्ष तो मुझे कुछ करना ही नहीं है। गोखलेने मुझसे प्रतिज्ञा करवाई है कि मुझे एक वर्ष तक देशका भ्रमण करना है और किसी सार्वजनिक प्रश्न पर अपने विचार न तो बनाना है, न प्रकट करना है। मैं इस प्रतिज्ञाको अक्षरश: पालनेवाला हूं। बादमें मुझे किसी प्रश्न पर कुछ कहनेकी जरूरत होगी तभी मैं कहूंगा। इसलिए मैं नहीं समझता कि पांच वर्ष तक सत्याग्रह करनेका कोई अवसर आयेगा।"

१०६. मेरा प्रयत्न

पूना पहुंचने पर उत्तर-क्रिया आदि संपन्न करके हम सब इस प्रश्नकी चर्चामें लग गये कि अब सोसायटी किस तरह निभे और मुझे उसमें सम्मिलित होना चाहिये या नहीं। गोखलेके जीते-जी मेरे लिए सोसायटीमें दाखिल होनेका प्रयत्न करना जरूरी नहीं था। मुझे केवल गोखलेकी आज्ञा और इच्छाके वश होना था। मुझे यह स्थिति पसन्द थी। भारतवर्षके तूफानी समुद्रमें पड़ते समय मुझे एक कर्णधारकी जरूरत थी; और गोखले-जैसे कर्णधारकी छायामें मैं सुरक्षित था।

किन्तु अब मुझे लगने लगा कि सोसायटीमें दाखिल होनेके लिए मुझे सतत प्रयत्न करना होगा। मैंने अनुभव किया कि गोखलेकी आत्मा मुझसे यही चाहेगी। मैंने बिना संकोचके और दृढ़तापूर्वक इसका प्रयत्न शुरू किया। किन्तु मैंने देखा कि सदस्योंमें मतभेद था।

हमारी सारी चर्चा मीठी थी और केवल सिद्धान्तका अनुसरण करनेवाली थी। लम्बी चर्चाके बाद हम एक-दूसरेसे अलग हुए। सदस्योंने दूसरी सभा तक निर्णयको मुलतवी रखा।

घर लौटते हुए मैं विचारोंके चक्रमें फंसा। क्या मेरे लिए बहुमतके सहारे दाखिल होना इष्ट होगा? क्या वह गोखलेके प्रति मेरी वफादारी मानी जायगी? अगर मेरे विरुद्ध मत प्रकट हो, तो क्या उस दशामें मैं सोसायटीकी स्थितिको नाजुक बनानेका निमित्त न बनूंगा? मैंने स्पष्ट देखा कि जब तक सोसायटीके सदस्योंमें मुझे दाखिल करनेके बारेमें मतभेद रहे तब तक स्वयं मुझे ही दाखिल होनेका आग्रह छोड़ देना चाहिये और इस प्रकार विरोधी

पक्षको नाजुक स्थितिमें पड़नेसे बचा लेना चाहिये। इसीमें सोसायटी और गोखलेके प्रति मेरी वफादारी है। ज्यों ही अन्तरात्मामें इस निर्णयका उदय हुआ, त्यों ही मैंने श्री शास्त्रीको पत्र लिखा कि वे मेरे प्रवेशके विषयमें सभा बुलायें ही नहीं। सोसायटीमें दाखिल होनेकी अपनी अर्जीको वापस लेकर मैं सोसायटीका सच्चा सदस्य बना।

अनुभवसे मैं देखता हूं कि मेरा प्रथाके अनुसार सोसायटीका सदस्य न बनना ही उचित था और जिन सदस्योंने मेरे प्रवेशके बारेमें विरोध किया था उनका विरोध वास्तविक था। लौकिक दृष्टिसे चाहे मैं सदस्य न बना होऊं, फिर भी आध्यात्मिक दृष्टिसे तो मैं उसका सदस्य रहा ही हूं। लौकिक संबंधकी अपेक्षा आध्यात्मिक संबंध अधिक कीमती है। आध्यात्मिकतासे विहीन लौकिक संबंध प्राण-विहीन देहके समान है।

१०७. कुंभमेला

मुझे डॉक्टर प्राणजीवनदास मेहतासे मिलनेके लिए रंगून जाना था। वहां जाते हुए श्री भूपेन्द्रनाथ वसुका निमंत्रण पाकर मैं कलकत्तेमें उनके घर ठहरा। यहां बंगाली शिष्टाचारकी पराकाष्ठा हो गई थी। उन दिनों मैं फलाहार ही करता था। कलकत्तेमें जितने प्रकारका सूखा और हरा मेवा मिला, उतना सब इकट्ठा किया गया था। मेरे साथियोंके लिए अनेक प्रकारके पकवान बनाये गये थे। मैं इस प्रेम और विवेकको तो समझा, लेकिन एक-दो मेहमानोंके लिए समूचे परिवारका सारे दिन व्यस्त रहना मुझे असह्य प्रतीत हुआ। इस मुसीबतसे बचनेका मेरे पास कोई इलाज न था।

रंगूनमें भी मेरे फलाहारकी उपाधि अपेक्षाकृत अधिक तो थी ही। मैंने पदार्थों पर तो अंकुश रख लिया था, लेकिन उनकी कोई मर्यादा निश्चित नहीं की थी। इस कारण तरह-तरहका जो मेवा आता, उसका मैं विरोध न करता था। नाना प्रकारकी वस्तुएं आंख और जीभके लिए रुचिकर होती थीं। खानेका कोई निश्चित समय नहीं रहता था। मैं खुद जल्दी खाना पसन्द करता था। फिर भी रातके आठ-नौ तो सहज ही बज जाते थे।

सन् १९१५ में हरद्वारमें कुंभका मेला था। उसमें जानेकी मेरी कोई इच्छा न थी। लेकिन मुझे महात्मा मुंशीरामजीके दर्शनोंके लिए तो जाना ही था। कुंभके अवसर पर गोखलेके भारत-सेवक-समाजने एक बड़ा दल भेजा था। तय यह हुआ था कि उसकी मददके लिए मैं अपना दल भी ले जाऊं। शांतिनिकेतनवाली टुकड़ीको लेकर मगनलाल गांधी मुझसे पहले हरद्वार पहुंच गये थे। रंगूनसे लौटकर मैं भी उनसे जा मिला।

हमने शांतिनिकेतनमें ही देख लिया था कि भंगीका काम करना हमारा एक खास धंधा बन जायगा। पाखानोंके लिए डॉ० देवने खड्डे खुदवाये थे। इन खड्डोंमें जमा होनेवाले पाखानेको समय-समय पर ढंकने और दूसरी तरह उन्हें साफ रखनेका काम फीनिक्सकी टुकड़ीके जिम्मे कर देनेकी मेरी मांगको डॉ० देवने खुशी-खुशी मंजूर कर लिया। इस सेवाकी मांग तो मैंने की, लेकिन इसे करनेका बोझ मगनलाल गांधीने उठाया।

मेरा धंधा तो अधिकतर डेरेके अन्दर बैठकर 'दर्शन' देने और आनेवाले अनेक यात्रियोंके साथ धर्मकी और ऐसी ही दूसरी चर्चा करनेका बन गया। मैं 'दर्शन' देते-देते अकुला उठा। मुझे उससे एक मिनटकी भी फुरसत न मिलती थी। अपने तम्बूके किसी हिस्सेमें मैं एक क्षणके लिए भी अकेला नहीं बैठ सकता था। दक्षिण अफ्रीकामें जो थोड़ी-बहुत सेवा मुझसे बन पड़ी थी, उसका इतना गहरा प्रभाव सारे भरतखण्ड पर पड़ा, यह मैं हरद्वारमें अनुभव कर सका।

मैं तो चक्कीके पाटोंके बीच पिसने लगा। जहां मैं प्रकट न होता वहां तीसरे दर्जेके मुसाफिरके रूपमें कष्ट उठाता; और जहां ठहरता वहां दर्शनार्थियोंके प्रेमसे अकुला उठता। मेरे लिए यह कहना प्रायः कठिन हो गया कि इन दोमें से कौनसी स्थिति अधिक दयाजनक थी।

उन दिनों मुझमें घूमने-फिरनेकी शक्ति काफी थी। इसलिए मैं काफी घूम-फिर सका था। इस भ्रमणमें मैंने लोगोंकी धर्म-भावनाकी अपेक्षा उनके पागलनपन, उनकी चंचलता, उनके पाखण्ड और उनकी अव्यवस्थाके ही अधिक दर्शन किये। साधुओंका तो जमघट ही इकट्ठा हुआ था। ऐसा प्रतीत हुआ मानो वे सिर्फ मालपूए और खीर खानेके लिए ही जनमे हों। यहां मैंने पांच पैरोंवाली एक गाय देखी। इससे मुझे आश्चर्य हुआ, किन्तु अनुभवी लोगोंने मेरे अज्ञानको तुरन्त दूर कर दिया।

कुंभका दिन आया। मेरे लिए वह धन्य घड़ी थी। मैं यात्राकी भावनासे हरद्वार नहीं गया था। तीर्थक्षेत्रमें पवित्रताकी शोधके लिए भटकनेका मोह मुझे कभी न रहा। किन्तु सत्रह लाख लोग पाखण्डी नहीं हो सकते। इनमें असंख्य लोग पुण्य कमानेके लिए, शुद्धि प्राप्त करनेके लिए आये थे, इस बारेमें मुझे कोई शंका न थी। यह कहना असंभव नहीं तो कठिन अवश्य है कि इस प्रकारकी श्रद्धा आत्माको किस हद तक ऊपर उठाती होगी।

मैं बिछौने पर पड़ा-पड़ा विचार-सागरमें डूब गया। चारों ओर फैले हुए पाखण्डके बीच अनेक पवित्र आत्मायें भी हैं। वे ईश्वरके दरबारमें दण्डनीय नहीं मानी जायंगी। यदि ऐसे अवसर पर हरद्वारमें आना ही पाप हो, तो मुझे प्रकट रूपसे उसका विरोध करके कुंभके दिन तो हरद्वारका त्याग ही

करना चाहिये। यदि यहां आनेमें और कुंभके दिन रहनेमें पाप न हो, तो मुझे कोई न कोई कठोर व्रत लेकर प्रचलित पापका प्रायश्चित्त करना चाहिये, आत्मशुद्धि करनी चाहिये। मेरा जीवन व्रतों द्वारा बना है। इसलिए मैंने कोई कठिन व्रत लेनेका निश्चय किया। मुझे उस अनावश्यक परिश्रमकी याद आई, जो कलकत्ते और रंगूनमें मेरे कारण यजमानोंको उठाना पड़ा था। इसलिए मैंने आहारकी वस्तुओंकी मर्यादा बांधने और अंधेरेसे पहले भोजन कर लेनेका व्रत लेना निश्चित किया। चौबीस घण्टोंमें पांच चीजोंसे अधिक कुछ न खानेका और रात्रि-भोजनके त्यागका व्रत तो मैंने ले ही लिया। इन व्रतोंमें एक भी गली न रखनेका मैंने निश्चय किया। इन दो व्रतोंने मेरी काफी परीक्षा की है। किन्तु जिस प्रकार परीक्षा की है, उसी प्रकार ये व्रत मेरे लिए ढालरूप भी सिद्ध हुए हैं। इनके कारण मेरा जीवन बढ़ा है और इनकी वजहसे मैं अनेक बार बीमारियोंसे बच गया हूं।

१०८. लक्ष्मण झूला

जब मैं पहाड़-से प्रतीत होनेवाले महात्मा मुंशीरामजीके दर्शन करने और उनका गुरुकुल देखने गया, तो वहां मैंने बहुत शांति अनुभव की। महात्माने मुझ पर प्रेमकी वर्षा की। गुरुकुलमें औद्योगिक शिक्षा दाखिल करनेकी आवश्यकताके बारेमें मैंने रामदेवजी और दूसरे शिक्षकोंके साथ काफी चर्चा की। जल्दी ही गुरुकुलसे बिदा होते समय मैंने दुःखका अनुभव किया।

मैंने लक्ष्मण झूलेकी बहुत तारीफ सुन रखी थी। वहां मैं पैदल जाना चाहता था। एक मंजिल हृषीकेशकी और वहांसे दूसरी लक्ष्मण झूलेकी थी।

हृषीकेशमें बहुतसे संन्यासी मुझसे मिलने आये थे। उनमें से एकको मेरे जीवनमें बहुत दिलचस्पी पैदा हुई। मेरे सिर पर शिखा और गलेमें जनेऊ न देखकर उन्हें दुःख हुआ और उन्होंने मुझसे पूछा :

"आप आस्तिक होते हुए भी जनेऊ और शिखा नहीं रखते हैं, इससे हमारे समान लोगोंको दुःख होता है। ये दो हिन्दू धर्मकी बाह्य संज्ञायें हैं और प्रत्येक हिन्दूको इन्हें धारण करना चाहिये।"

मैंने कहा — "मैं जनेऊ तो धारण नहीं करूंगा। जिसे न पहनते हुए भी असंख्य हिन्दू हिन्दू माने जाते हैं, उसे पहननेकी मैं अपने लिए कोई जरूरत नहीं मानता। फिर, जनेऊ धारण करनेका अर्थ है दूसरा जन्म लेना; अर्थात् स्वयं संकल्पपूर्वक शुद्ध बनना, ऊर्ध्वगामी बनना। आजकल हिन्दू समाज और हिन्दुस्तान दोनों गिरी हुई हालतमें हैं। ये दोनों जिस

गिरी हुई हालतमें हैं, उसमें जनेऊ धारण करनेका हम अधिकार ही क्या है? हिन्दू समाजको जनेऊका अधिकार तभी हो सकता है, जब वह अस्पृश्यताका मैल धो डाले, ऊंच-नीचकी बात भूल जाय, दूसरे जड़ जमाये हुए दोषोंको दूर करे और चारों ओर फैले हुए अधर्म तथा पाखण्डको मिटावे। इसलिए जनेऊ धारण करनेकी आपकी बात मेरे गले नहीं उतरती। किन्तु शिखाके संबंधमें आपकी बात मुझे अवश्य सोचनी होगी। मैं शिखा तो रखता था। उसे मैंने शरम और डरके मारे ही कटा डाला है। मुझे लगता है कि शिखा धारण करनी चाहिये। मैं इस सम्बन्धमें अपने साथियोंसे चर्चा कर लूंगा।"

जनेऊके विषयमें दी गई मेरी दलील स्वामीजीको अच्छी न लगी।

जब बाह्य संज्ञा केवल आडम्बर-रूप हो जाती है, अथवा अपने धर्मको दूसरे धर्मसे अलग बतानेके काम आती है, तब वह त्याज्य हो जाती है। मैं नहीं समझता कि आजकल जनेऊ हिन्दू धर्मको ऊपर उठानेका साधन है। इसलिए उसके विषयमें मैं तटस्थ हूं।

शिखाका त्याग स्वयं मेरे लिए लज्जाजनक था, इसलिए साथियोंसे चर्चा करके मैंने उसे धारण करनेका निश्चय किया।

हृषीकेश और लक्ष्मण झूलेके प्राकृतिक दृश्य मुझे बहुत भले लगे। प्राकृतिक कलाको पहचाननेकी पूर्वजोंकी शक्तिके विषयमें और कलाको धार्मिक स्वरूप देनेकी उनकी दीर्घदृष्टिके विषयमें मैंने मन-ही-मन अत्यन्त आदरका अनुभव किया।

किन्तु मनुष्यकी कृतिसे चित्तको शांति न मिली। हरद्वारकी तरह ही हृषीकेशमें भी लोग रास्तोंको और गंगाके सुन्दर किनारोंको गन्दा कर देते थे। गंगाके पवित्र पानीको खराब करनेमें भी उन्हें किसी प्रकारका संकोच न होता था।

लक्ष्मण झूला जाते हुए मैंने लोहेका झूलता पुल देखा। वह पुल प्राकृतिक वातावरणको कलुषित करता था और बहुत अप्रिय प्रतीत होता था। यात्रियोंके इस रास्तेकी चाबी सरकारके हाथोंमें सौंपी गई थी। मेरी उस समयकी वफादारीको भी यह असह्य मालूम हुआ।

१०९. आश्रमकी स्थापना

सन् १९१५ के मई महीनेकी २५ तारीखके दिन सत्याग्रह आश्रमकी स्थापना हुई। जब मैं अहमदाबादसे गुजरा, तो अनेक मित्रोंने अहमदाबाद पसन्द करनेको कहा और आश्रमका खर्च खुद ही उठा लेनेका जिम्मा लिया। उन्होंने मकान खोज देना भी कबूल किया।

अहमदावाद पर मेरी नजर तो टिकी ही थी। गुजराती होनेके कारण मैं मानता था कि गुजराती भाषाके द्वारा मैं देशकी अधिक-से-अधिक सेवा कर सकूंगा। यह भी धारणा थी कि अहमदाबाद पहले हाथकी बुनाईका केन्द्र था, इसलिए चरखेका काम यहीं अधिक अच्छी तरहसे हो सकेगा। साथ ही यह आशा भी थी कि अहमदावाद गुजरातका मुख्य नगर होनेके कारण यहांके धनी लोग धनकी अधिक मदद कर सकेंगे।

अहमदाबादके मित्रोंके साथ जो चर्चायें हुईं, उनमें अस्पृश्योंका प्रश्न भी चर्चाका विषय बना था। मैंने स्पष्ट शब्दोंमें कहा था कि यदि कोई योग्य अन्त्यज भाई आश्रममें दाखिल होना चाहेगा, तो मैं उसे जरूर दाखिल करूंगा।

मकानोंकी तलाश करते हुए यह तय किया कि श्री जीवणलाल बैरिस्टरका कोचरबवाला मकान किरायेसे लिया जाय। जिन लोगोंने मुझे अहमदाबादमें बसानेकी आगे बढ़कर कोशिश की थी, उनमें श्री जीवणलाल प्रमुख थे।

तुरंत ही प्रश्न उठा कि आश्रमका नाम क्या रखा जाय? मैंने मित्रोंसे सलाह की। हमें तो सत्यकी पूजा, सत्यकी शोध करनी थी, उसीका आग्रह रखना था। और, दक्षिण अफ्रीकामें मैंने जिस पद्धतिका उपयोग किया था, भारतवर्षको उसका परिचय कराना था और यह देखना था कि उसकी शक्ति कहां तक व्यापक हो सकती है। इसलिए मैंने और साथियोंने 'सत्याग्रह आश्रम' नाम पसन्द किया। इस नामसे सेवाका और सेवाकी पद्धतिका भाव सहज ही प्रकट होता था।

आश्रमके संचालनके लिए नियमावलि तैयार की और उस पर सम्मतियां मांगीं। सर गुरुदास बेनर्जीको नियमावलि अच्छी लगी, किन्तु उन्होंने सुझाया कि व्रतोंमें नम्रताको स्थान देना चाहिये। यद्यपि मैं जगह-जगह नम्रताके अभावका अनुभव करता था, फिर भी आशंका यह थी कि नम्रताको व्रतोंमें स्थान देनेसे नम्रता नम्रता न रह जायगी। नम्रताका सम्पूर्ण अर्थ तो शून्यता है। इस शून्यता तक पहुंचनेके लिए दूसरे व्रत आवश्यक हो सकते हैं। स्वयं शून्यता तो मोक्षकी स्थिति है। मुमुक्षु अथवा सेवकके प्रत्येक कार्यमें नम्रता -- निरभिमानता न हो, तो वह मुमुक्षु नहीं, सेवक नहीं; वह स्वार्थी है, अहंकारी है।

११०. कसौटी पर चढ़े

आश्रमको कायम हुए अभी कुछ ही महीने हुए थे कि इतनेमें जैसी कसौटीकी मुझे आशा न थी, वैसी कसौटी हमारी हो गई। भाई अमृतलाल ठक्करका पत्र मिला — "एक गरीब और प्रामाणिक अन्त्यज परिवार है। वह आपके आश्रममें आकर रहना चाहता है। उसे भरती करेंगे?"

मैं चौंका। साथियोंको पत्र पढ़नेके लिए दिया। उन्होंने उसका स्वागत किया। भाई अमृतलाल ठक्करको लिखा गया कि यदि वह परिवार आश्रमके नियमोंका पालन करनेको तैयार हो, तो उसे भरती करनेकी हमारी तैयारी है।

दूदाभाई, उनकी पत्नी दानीबहन और दूध पीती व घुटनों चलती बच्ची लक्ष्मी तीनों आये।

सहायक मित्र-मंडलीमें खलबली मच गई। पैसेकी मदद बन्द हुई। बहिष्कारकी बातें मेरे कानों तक आने लगीं। मैंने साथियोंसे चर्चा करके तय कर रखा था कि "यदि हमारा बहिष्कार किया जाय और हमें कहींसे कोई मदद न मिले, तो भी अब हम अहमदाबाद नहीं छोड़ेंगे। अन्त्यजोंकी बस्तीमें जाकर उनके साथ रहेंगे और जो भी कुछ मिलेगा उससे अथवा मजदूरी करके अपना निर्वाह करेंगे।"

आखिर मगनलालने मुझे नोटिस दिया — "अगले महीने आश्रमका खर्च चलानेके लिए हमारे पास पैसे नहीं हैं।"

मैंने धीरजसे जवाब दिया — "तो हम अन्त्यजोंकी बस्तीमें रहने जायेंगे।"

मुझ पर ऐसा संकट यह पहली ही बार नहीं आया था। हर बार अंतिम घड़ीमें प्रभुने मदद भेजी ही है।

इसके बाद तुरन्त ही एक दिन सवेरे एक सेठ मोटरमें आये और आश्रमके बाहर खड़े रहे। मैं मोटरके पास गया। सेठने मुझसे पूछा — "मैं आश्रमको कुछ मदद देना चाहता हूं। आप लेंगे?"

मैंने जवाब दिया — "अगर आप कुछ देंगे, तो मैं जरूर लूंगा। मुझे कबूल करना चाहिये कि इस समय मैं संकटमें भी हूं।"

दूसरे दिन नियत समय पर मोटरका भोंपू बोला। सेठ अंदर न आये। मैं उनसे मिलने गया। वे मेरे हाथमें रु० १३,००० के नोट रखकर बिदा हो गये। मुझे लगभग एक वर्षका खर्च मिल गया।

इस अन्त्यज परिवारको आश्रममें रखकर आश्रमने बहुतेरे पाठ सीखे हैं। और प्रारंभिक कालमें ही इस बातके बिलकुल स्पष्ट हो जानेसे कि आश्रममें अस्पृश्यताके लिए स्थान है ही नहीं, आश्रमकी मर्यादा निश्चित हो गई और इस दिशामें उसका काम बहुत सरल हो गया।

१११. गिरमिटकी प्रथा

नातालके गिरमिटियों पर लगा तीन पौंडका वार्षिक कर सन् १९१४ में उठा दिया गया था, किन्तु गिरमिटकी प्रथा अभी तक बन्द न हुई थी। भारत-भूषण मालवीयजीने धारासभामें इस प्रश्नको उठाया था और लॉर्ड हार्डिंगने उनके प्रस्तावको स्वीकार करके घोषित किया था कि 'समय आने पर' इस प्रथाको नष्ट करनेका वचन मुझे सम्राट्की ओरसे मिला है। लेकिन मुझे तो यह स्पष्ट लगा कि इस प्रथाको तत्काल बन्द करनेका निर्णय हो जाना चाहिए। मैंने इस प्रश्नके सिलसिलेमें हिन्दुस्तानका दौरा शुरू किया।

दौरेकी शुरुआत बम्बईसे की। बम्बईकी सभाके प्रस्तावमें गिरमिटकी प्रथा बन्द करनेकी बिनती करनी थी। सवाल यह था कि वह कब बन्द की जाय? तीन सुझाव थे — 'जितनी जल्दी हो सके उतनी जल्दी', '३१ वीं जुलाई' और 'तुरन्त'। '३१ वीं जुलाई' का सुझाव मेरा था। मैं तो एक निश्चित तारीख चाहता था, जिससे उस अवधिमें कुछ न हो तो आगे क्या करना है अथवा क्या किया जा सकता है इसकी सूझ पड़े। चर्चाके बाद प्रस्तावमें उक्त तारीख रखी गई। आम सभामें उक्त प्रस्ताव रखा गया और सर्वत्र ३१ वीं जुलाई घोषित हुई।

मैं कराची, कलकत्ता आदि स्थानोंमें भी हो आया था। सभी जगहोंमें अच्छी सभायें हुईं और सब कहीं लोगोंमें खूब उत्साह था। जब मैंने आरंभ किया था तब मुझे यह आशा न थी कि ऐसी सभायें होंगी और लोग इतनी संख्यामें हाजिर रहेंगे।

३१वीं जुलाईसे पहले गिरमिटकी प्रथाके बन्द होनेका प्रस्ताव प्रकाशित हुआ। सन् १८९४ में इस प्रथाकी निन्दा करनेवाली पहली अर्जी मैंने तैयार की थी और आशा रखी थी कि किसी-न-किसी दिन यह 'आधी गुलामी' रद्द होगी ही। सन् १८९४ से शुरू हुए इस प्रयत्नमें बहुतोंकी सहायता थी। किन्तु यह कहे बिना नहीं रहा जाता कि इसके पीछे शुद्ध सत्याग्रह था।

११२. नीलका दाग

जिस तरह चम्पारनमें आमके वन हैं, उसी तरह सन् १९१७ में वहां नीलके खेत थे। चम्पारनके किसान अपनी ही जमीनके ३/२० भागमें नीलकी खेती उसके असल मालिकोंके लिए करनेको कानूनसे बंधे हुए थे। इसे वहां 'तीन कठिया' कहा जाता था।

राजकुमार शुक्ल नामक चम्पारनके एक किसान थे। उन पर दुःख पड़ा था। यह दुःख उन्हें अखरता था। लेकिन अपनी मुसीबतकी वजहसे उनमें नीलके इस दागको सबके लिए धो डालनेकी एक लगन पैदा हो गई थी।

जब मैं लखनऊ कांग्रेसमें गया, तो वहां इस किसानने मेरा पीछा पकड़ा। लखनऊसे मैं कानपुर गया। वहां भी राजकुमार शुक्ल हाजिर मिले। जब मैं आश्रम पहुंचा तो राजकुमार शुक्ल मेरे पीछे-पीछे वहां भी मौजूद थे। 'अब तो दिन मुकर्रर कीजिये।' मैंने कहा—"देखिये, मुझे अमुक तारीखको कलकत्ता पहुंचना है। वहां आइये और मुझे ले जाइये।" कलकत्तेमें मेरे भूपेन्द्रबाबूके घर पहुंचनेसे पहले ही उन्होंने उनके घर अपना डेरा डाल दिया था। इस अनपढ़, अनगढ़ किन्तु निश्चयी किसानने मुझे जीत लिया।

सन् १९१७ के आरंभमें हम दोनों कलकत्तेसे रवाना हुए। दोनोंकी एकसी जोड़ी थी। दोनों किसान-जैसे ही मालूम होते थे। राजकुमार शुक्ल जिस गाड़ी पर ले गये, उसमें हम दोनों सवार हुए। सवेरे पटना उतरे। वे मुझे राजेन्द्रबाबूके घर ले गये। राजेन्द्रबाबू पूरी या कहीं और गये थे।

बिहारमें तो छुआछूतका बहुत कड़ा रिवाज था। मेरी बालटीके पानीके छींटे नौकरको भ्रष्ट करते थे। राजकुमारने मुझे अन्दरके पाखानेका उपयोग करनेको कहा। नौकरने बाहरके पाखानेकी ओर इशारा किया। मेरे लिए इसमें परेशान या गुस्सा होनेका कोई कारण न था। इस प्रकारके अनुभव कर-करके मैं बहुत पक्का हो चुका था। इन मनोरंजक अनुभवोंके कारण राजकुमार शुक्लके प्रति जिस तरह मेरा आदर बढ़ा, उसी तरह उनके विषयमें मेरा ज्ञान भी बढ़ा। पटनेसे लगाम मैंने अपने हाथमें ली।

११३. बिहारकी सरलता

किसी समय मौलाना मजहरुलहक और मैं दोनों लंदनमें पढ़ते थे। उसके बाद हम सन् १९१५ की बम्बई कांग्रेसमें मिले थे। उन्होंने पुरानी पहचान बताकर मुझे पटना आने पर अपने घर आनेका आमंत्रण दिया था। इस आमंत्रणके सहारे मैंने उन्हें चिट्ठी भेजी। वे तुरन्त अपनी मोटर लाये और मुझे अपने घर ले चलनेका आग्रह किया। मैंने उनका आभार माना और उनसे कहा कि जिस जगह मुझे जाना है, वहांके लिए वे मुझे पहली ट्रेनसे रवाना कर दें। उसी दिन शामको मुजफ्फरपुरके लिए ट्रेन जाती थी। उन्होंने मुझे उसमें रवाना किया। उन दिनों आचार्य कृपलानी मुजफ्फरपुरमें रहते थे। मैंने उन्हें तार किया। वे अध्यापक मलकानीके घर रहते थे। मुझे उन्हींके यहां ले गये।

सवेरे वकीलोंका एक छोटा-सा दल मुझसे मिलने आया। उनमें से रामनवमीप्रसादने अपने आग्रहके कारण मेरा ध्यान आकर्षित किया। वे बोले :

"आप जो काम करने आये हैं, वह इस जगहसे नहीं होगा। गयाबाबू यहांके प्रसिद्ध वकील हैं। उनकी ओरसे मैं आग्रह करता हूं कि आप उनके घर ठहरें। हम सब सरकारसे डरते तो हैं ही, लेकिन हमसे जितनी बनेगी उतनी हम आपकी मदद करेंगे। राजकुमार शुक्लकी बहुत-सी बातें बिलकुल सच हैं। मैंने बाबू ब्रजकिशोरप्रसाद और राजेन्द्रप्रसादको तार किये हैं। वे दोनों फौरन ही आ जायेंगे और आपको पूरी जानकारी व मदद दे सकेंगे।"

मैं गयाबाबूके घर गया। उन्होंने और उनके परिवारवालोंने मुझे प्रेमसे नहला दिया।

ब्रजकिशोरबाबू और राजेन्द्रबाबू आये। ब्रजकिशोरबाबूके प्रति वकील-मंडलका आदर-भाव देखकर मुझे सानंद आश्चर्य हुआ। इस मंडलीके और मेरे बीच जीवन-भरकी गांठ बंध गई।

ब्रजकिशोरबाबूने मुझे सारी हकीकतोंकी जानकारी दी। मैंने कहा — "अब हमें मुकदमें चलानेका खयाल छोड़ देना चाहिये। जहां सब इतने भयभीत रहते हैं वहां कचहरियोंकी मार्फत कोई इलाज थोड़े ही हो सकता है। लोगोंके लिए सच्ची औषध तो उनके डरको भगाना है। जबतक यह 'तीन कठिया' प्रथा रद्द न हो, हम सुखसे बैठ नहीं सकते। मैं तो दो दिनमें जितना देखा जा सके उतना देखने आया था। लेकिन अब देख रहा हूं कि यह काम तो दो वर्ष भी ले सकता है। यदि इसमें इतना समय भी लगे, तो मैं देनेको तैयार हूं। मुझे यह तो सूझ रहा है कि इस कामके लिए क्या करना चाहिये। लेकिन इसमें आपकी मदद जरूरी है।"

व्रजकिशोरबाबूने शांत भावसे उत्तर दिया—"हमसे जो बनेगी सो मदद देंगे। लेकिन हमें समझाइये कि आप किस प्रकारकी मदद चाहते हैं।"

इस बातचीतमें हमने सारी रात बिताई। मैंने कहा—"मुझे आपकी वकालतकी शक्तिकी कम ही जरूरत पड़ेगी। आपके समान लोगोंसे तो मैं लेखक और दुभाषियेका काम लेना चाहूंगा। इसमें जेल भी जाना पड़ सकता है। अगर आप इस जोखिमको उठाना न चाहें, तो भले न उठायें। लेकिन वकालत छोड़कर लेखक बनने और अपने धंधेको अनिश्चित अवधिके लिए बन्द रखनेकी मांग करके मैं आप लोगोंसे कुछ कम नहीं मांग रहा हूं। सारा काम सेवाभावसे और बिना पैसेके होना चाहिये।"

व्रजकिशोरबाबू समझे, किन्तु उन्होंने मुझसे और अपने साथियोंसे जिरह की। अन्तमें उन्होंने अपना यह निश्चय प्रकट किया—"हम इतने लोग आप जो काम हमें सौंपेंगे सो कर देनेके लिए तैयार रहेंगे। हममें से जितनोंको आप जिस समय चाहेंगे उतने आपके पास रहेंगे। जेल जानेकी बात नई है। उसके लिए हम शक्ति-संचय करनेकी कोशिश करेंगे।"

११४. अहिंसा देवीका साक्षात्कार?

मुझे तो किसानोंकी हालतकी जांच करनी थी। किन्तु उनके संपर्कमें आनेसे पहले मुझे यह आवश्यक मालूम हुआ कि मैं नीलके मालिकोंकी बात सुन लूं और कमिश्नरसे मिल लूं। मैंने दोनोंको चिट्ठी लिखी।

मालिकोंके मंत्रीके साथ जो मुलाकात हुई, उसमें उसने साफ कह दिया कि आपकी गिनती परदेशीमें होती है। आपको हमारे और किसानोंके बीच कोई दखल न देना चाहिये। मैं कमिश्नर साहबसे मिला। उन्होंने तो धमकाना ही शुरू किया और मुझे सलाह दी कि मैं आगे बढ़े बिना तिरहुत छोड़ दूं।

मैंने सारी बातें साथियोंसे कहीं और कहा कि संभव है सरकार मुझे जांच करनेसे रोके और जेल जानेका समय मेरी अपेक्षासे भी पहले आ जाये। अगर गिरफ्तार ही होना है तो मुझे मोतीहारीमें और संभव हो तो बेतियामें गिरफ्तार होना चाहिये और इसके लिए वहां जल्दी-से-जल्दी पहुंच जाना चाहिये।

इस विचारसे मैं उसी दिन साथियोंको लेकर मोतीहारीके लिए रवाना हुआ। जिस दिन हम वहां पहुंचे उसी दिन सुना कि मोतीहारीसे कोई पांच मील दूर रहनेवाले एक किसान पर अत्याचार किया गया है। मैंने निश्चय किया कि धरणीधरप्रसाद वकीलको साथ लेकर मैं दूसरे दिन सवेरे उसे देखने जाऊंगा। सवेरे हाथी पर सवार होकर हम चल पड़े। आधे

रास्ते पहुंचे होंगे कि पुलिस सुपरिण्टेण्डेण्टका आदमी वहां आ पहुंचा और मुझसे बोला — "सुपरिण्टेण्डेण्ट साहबने आपको सलाम भेजा है।" मैं समझ गया। उस संदेशवाहकके साथ उसकी भाड़ेकी गाड़ीमें मैं सवार हुआ। उसने मुझे चम्पारन छोड़ देनेका नोटिस दिया। वह मुझे घर ले गया। मैंने उसे जवाब लिख दिया कि मैं चम्पारन छोड़ना नहीं चाहता मुझे तो आगे बढ़ना है और जांच करनी है। निर्वासनकी आज्ञाका अनादर करनेके लिए मुझे दूसरे ही दिन कोर्टमें हाजिर रहनेका समन मिला।

मैंने सारी रात जागकर जो पत्र मुझे लिखने थे सो लिखे और ब्रजकिशोरबाबूको सब प्रकारकी आवश्यक सूचनायें दीं।

समनकी बात एक क्षणमें चारों ओर फैल गई। लोग कहते थे कि उस दिन मोतीहारीमें जैसा दृश्य देखा गया, वैसा पहले कभी देखा न गया था। गोरखबाबूका घर और दफ्तर लोगोंकी भीड़से भर गया। लोग क्षण भरको दण्डका भय भुलाकर अपने नये मित्रके प्रेमकी सत्ताके अधीन हो गये।

यहां याद रखना चाहिये कि चम्पारनमें मुझे कोई पहचानता न था। वहांका किसान-वर्ग बिलकुल अनपढ़ था। चम्पारनमें कहीं कांग्रेसका नाम भी न था। वहां लोगोंमें किसीने आज तक कोई राजनीतिक काम किया ही न था। लोग चम्पारनके बाहरकी दुनियाको जानते न थे। इतने पर भी उनका और मेरा मिलन पुराने मित्रों-जैसा लगा। अतएव यह कहनेमें अतिशयोक्ति नहीं, बल्कि अक्षरशः सचाई है कि इसके कारण मैंने वहां ईश्वरका, अहिंसाका और सत्यका साक्षात्कार किया। जब मैं इस साक्षात्कारके अपने अधिकारकी जांच करता हूं, तो मुझे लोगोंके प्रति अपने प्रेमके सिवा और कुछ नहीं मिलता। इस प्रेमका अर्थ है, प्रेम अथवा अहिंसाके प्रति मेरी अविचल श्रद्धा।

११५. मुकदमा वापस लिया गया

मुकदमा चला। सरकारी वकील, मजिस्ट्रेट आदि घबराये हुए थे। उन्हें सूझ नहीं पड़ रहा था कि किया क्या जाय। सरकारी वकील सुनवाई मुलतवी रखनेकी मांग कर रहा था। मैंने बीचमें दखल दिया और प्रार्थना की कि मुलतवी रखनेकी कोई जरूरत नहीं है, क्योंकि मुझे चम्पारन छोड़नेके नोटिसका अनादर करनेका गुनाह कबूल करना है। यह कहकर मैं उस बहुत ही छोटे बयानको पढ़ गया, जो मैंने तैयार किया था।

अब केसकी सुनवाई मुलतवी रखनेकी जरूरत न थी। किन्तु चूंकि मजिस्ट्रेट और वकीलने इस परिणामकी आशा नहीं की थी, अतएव सजाके

लिए अदालतने केस मुलतवी रखा। जब सजा सुननेके लिए कोर्टमें जानेका समय हुआ, तो उससे कुछ पहले मेरे नाम मजिस्ट्रेटका हुक्म आया कि गवर्नर साहबके हुक्मसे मुकदमा वापस ले लिया गया है। साथ ही कलेक्टरका पत्र मिला कि मुझे जो जांच करनी हो, मैं करूं और उसमें अधिकारियोंकी ओरसे जो मदद आवश्यक हो सो मांग लूं।

सारे हिन्दुस्तानको सत्याग्रहका अथवा कानूनके सविनय-भंगका पहला स्थानीय पदार्थ-पाठ प्राप्त हुआ। अखबारोंमें इसकी खूब चर्चा हुई और यों चम्पारनका तथा मेरी जांचका अनपेक्षित रीतिसे विज्ञापन हुआ।

यद्यपि अपनी जांचके लिए मुझे सरकारकी ओरसे निष्पक्षताकी जरूरत थी, फिर भी अखबारोंकी चर्चाकी और उनके संवाददाताओंकी जरूरत न थी; यही नहीं, बल्कि उनकी अतिशय टीका और जांचकी लम्बी-चौड़ी रिपोर्टोंसे हानि होनेका भय था। इसलिए मैंने खास-खास अखबारोंके सम्पादकोंसे प्रार्थना की थी कि वे रिपोर्टरोंको भेजनेका खर्च न उठायें; जितना छपानेकी जरूरत होगी उतना मैं स्वयं उन्हें भेजता रहूंगा और खबर देता रहूंगा।

मैंने इस लड़ाईको कभी राजनीतिक रूप धारण नहीं करने दिया। राजनीतिक काम करनेके लिए भी जहां राजनीतिकी गुंजाइश न हो वहां उसे राजनीतिका स्वरूप देनेसे पांडेको दोनों दीनसे जाना पड़ता है। और इस प्रकार विषयका स्थानान्तर न करनेसे दोनों सुधरते हैं। चम्पारनकी लड़ाई यह सिद्ध कर रही थी कि शुद्ध लोकसेवामें प्रत्यक्ष नहीं तो परोक्ष रीतिसे राजनीति मौजूद ही रहती है।

११६. कार्य-पद्धति

अगर गोरखबाबूके घर रहकर यह जांच चलानी होती, तो गोरखबाबूको अपना घर खाली करना पड़ता। मोतीहारीमें अभी लोग इतने निर्भय नहीं हुए थे कि कोई मांगते ही मुझे अपना मकान किराये पर दे देता। किन्तु चतुर ब्रजकिशोरबाबूने एक लम्बी-चौड़ी जमीनवाला मकान किराये पर लिया और हम उसमें रहने गये।

हम बिलकुल बिना पैसेके काम चला सकें ऐसी स्थिति नहीं थी। जरूरत पड़ने पर ब्रजकिशोरबाबू अपनी जेबसे खर्च कर लेते और कुछ मित्रोंसे भी वसूल करते। मेरा यह दृढ़ निश्चय था कि चम्पारनकी जनतासे एक कौड़ी भी न ली जाय। ली जाती तो उसके गलत अर्थ लगाये जाते। यह

भी निश्चय था कि इस जांचके लिए हिन्दुस्तानमें सार्वजनिक चंदा न किया जाय। वैसा करने पर यह जांच राष्ट्रीय और राजनीतिक रूप धारण कर लेती। बम्बईसे मित्रोंने रु० १५,००० की मददका तार भेजा। निश्चय यह हुआ कि ब्रजकिशोरबाबूका दल बिहारके खुशहाल लोगोंसे जितनी मदद ले सके ले और कम पड़नेवाली रकम मैं डॉक्टर प्राणजीवनदास मेहतासे प्राप्त कर लूं। डॉक्टर मेहताने लिखा कि जो चाहिये सो मंगा लें। अतएव द्रव्यके संबंधमें हम निश्चिन्त हो गये।

शुरूके दिनोंमें हमारी रहन-सहन विचित्र थी। वकील-मंडलमें हरएकका अपना रसोइया था और हरएकके लिए अलग रसोई बनती थी। ये सब महाशय रहते तो अपने खर्चसे ही थे, किन्तु मेरे लिए उनकी यह रहन-सहन उपाधिरूप थी। वे मेरे शब्दबाणोंको प्रेमपूर्वक सहते थे। आखिर यह तय हुआ कि नौकरोंको छुट्टी दी जाय, सब एकसाथ खायें, भोजनके नियमोंका पालन करें और एक ही रसोईघरमें सबके लिए केवल निरामिष भोजन ही बनाया जाय। इससे खर्चमें बहुत बचत हुई, काम करनेकी शक्ति बढ़ी और समय बचा।

किसानोंके दल-के-दल अपनी कहानी लिखाने आने लगे। कहानी लिखनेवालोंको कुछ नियमोंका पालन करना होता था। यद्यपि इसके कारण समय थोड़ा अधिक खर्च होता था, फिर भी बयान बहुत सच्चे और साबित हो सकनेवाले मिलते थे।

इन बयानोंको लेते समय खुफिया पुलिसका कोई-न-कोई अधिकारी हाजिर रहता था। उसके सुनते और देखते हुए ही सारे बयान लिये जाते थे। इसका एक लाभ यह हुआ कि लोगोंमें निर्भयता पैदा हुई और इस डरसे कि झूठ बोलने पर कहीं अधिकारी उन्हें फांद न लें, उनको सावधानीसे बोलना पड़ता था।

मैं निलहे गोरोंको खिझाना न चाहता था, बल्कि मुझे तो उन्हें विनय द्वारा जीतनेका प्रयत्न करना था। इसलिए जिसके विरुद्ध विशेष शिकायतें आतीं, उसे मैं पत्र लिखता और उससे मिलनेका प्रयत्न भी करता था। उनमें से कुछ मेरा तिरस्कार करते, कुछ उदासीन रहते और कुछ विनयभी प्रकट करते थे।

११७. गांवोंमें

जैसे-जैसे मैं अनुभव प्राप्त करता गया, वैसे-वैसे मुझे लगा कि अगर चम्पारनमें ठीकसे काम करना हो, तो गांवोंमें शिक्षाका प्रवेश होना चाहिये। लोगोंका अज्ञान दयाजनक था। गांवमें बच्चे मारे-मारे फिरते थे अथवा मां-बाप नीलके खेतोंमें दिनभर उनसे मजदूरी कराते थे, ताकि उन्हें दिनके दो या तीन पैसे मिल सकें।

साथियोंसे चर्चा करके मैंने प्रथम छह गांवोंमें बच्चोंके लिए पाठशालाएं खोलनेका निश्चय किया। शर्त यह थी कि उस-उस गांवके अगुवा मकान और शिक्षकके भोजनका खर्च खुद उठायें और बाकी दूसरे खर्चकी व्यवस्था हम करें।

सबसे बड़ा सवाल यह था कि शिक्षक कहांसे लाये जायें? मैंने एक आम अपील द्वारा इस कामके लिए स्वयंसेवकोंकी मांग की। बारह शिक्षकों और शिक्षिकाओंका एक दल बना।

लेकिन मुझे सिर्फ शिक्षाकी व्यवस्था करके ही रुकना न था। गांवोंमें गन्दगीका पार न था। बड़ोंको स्वच्छताकी शिक्षा देना आवश्यक था। चम्पारनके लोग रोगोंसे पीड़ा पाते देखे गये थे।

इस कामके लिए डॉक्टरकी सहायता आवश्यक थी और मुझे यह सहायता मिल गई।

सबको यह समझा दिया गया था कि कोई निलहे गोरोंके खिलाफ की जानेवाली शिकायतोंमें न पड़े, राजनीतिको न छुए। कोई अपने क्षेत्रसे बाहर एक कदम भी आगे न बढ़े। चम्पारनके इन साथियोंका नियम-पालन अद्‌भुत था।

पाठशाला, सफाई और दवाके कामसे लोगोंमें स्वयंसेवकोंके प्रति विश्वास और आदर बढ़ा और उन पर अच्छा असर पड़ा।

लेकिन मुझे खेदके साथ कहना चाहिये कि इस कामको स्थायी रूपसे करनेकी मेरी इच्छा पूरी न हो सकी। फिर भी छह महीनों तक जो काम वहां हुआ, उसने अपनी जड़ें इतनी जमा लीं कि किसी-न-किसी स्वरूपमें आज तक वहां उसका असर बना हुआ है।

११८. उजला पहलू

एक ओर समाज-सेवाका काम हो रहा था और दूसरी ओर लोगोंके दु:खकी कहानियां लिखनेका काम उत्तरोत्तर बढ़ते पैमाने पर हो रहा था। निलहे गोरोंका क्रोध बढ़ने लगा। मेरी जांचको बन्द करानेकी उनकी कोशिशें बढ़ती गईं।

एक दिन मुझे बिहार सरकारका पत्र मिला। उसका भावार्थ यों था — 'आपकी जांचको शुरू हुए काफी अरसा हो चुका है, अत: अब आपको अपनी जांच बन्द करके बिहार छोड़ देना चाहिये।' पत्र विनयपूर्वक लिखा गया था, पर उसका अर्थ स्पष्ट था। मैंने लिखा कि जांचका काम तो अभी देर तक चलेगा और समाप्त होने पर भी जब तक लोगोंके दु:ख दूर न हों, मेरा इरादा बिहार छोड़ कर जानेका नहीं है।

गवर्नर सर एडवर्ड गेटने मुझे बुलाया और कहा कि वे स्वयं एक जांच-समिति नियुक्त करना चाहते हैं। उन्होंने मुझे उसका सदस्य बननेके लिए निमंत्रित किया। समितिके दूसरे नाम देखनेके बाद मैंने साथियोंसे सलाह की और इस शर्त पर सदस्य बनना कबूल किया कि मुझे अपने साथियोंसे सलाह-मशविरा करनेकी आजादी रहनी चाहिये और सरकारको यह समझ लेना चाहिये कि सदस्य बन जानेसे मैं किसानोंकी हिमायत करना छोड़ न दूंगा तथा जांच हो चुकने पर मुझे संतोष न हुआ, तो किसानोंका मार्ग-दर्शन करनेकी अपनी स्वतंत्रताको मैं हाथसे जाने न दूंगा।

सर एडवर्ड गेटने इन शर्तोंको मुनासिब मानकर इन्हें मंजूर किया। जांच-समितिने किसानोंकी सारी शिकायतोंको सही ठहराया और निलहे गोरोंने जो रकम अनुचित रीतिसे वसूल की थी उसका कुछ अंश लौटाने तथा 'तीन कठिया' के कानूनको रद्द करनेकी सिफारिश की।

इस रिपोर्टके सांगोपांग तैयार होने और अन्तमें कानूनके पास होनेमें सर एडवर्ड गेटका बहुत बड़ा हाथ था। उन्होंने समितिकी सिफारिशों पर पूरा-पूरा अमल किया।

इस प्रकार सौ सालसे चले आनेवाले 'तीन कठिया' कानूनके रद्द होते ही उसके साथ निलहे गोरोंके राज्यका अस्त हुआ, जनताका जो समुदाय बराबर दबा ही रहता था उसे अपनी शक्तिका कुछ भान हुआ और लोगोंका यह वहम दूर हुआ कि नीलका दाग धोये धुल ही नहीं सकता।

११९. मजदूरोंके सम्पर्कमें

चम्पारनमें अभी मैं समितिके कामको समेट ही रहा था कि इतनेमें खेड़ासे मोहनलाल पंड्या और शंकरलाल परीखका पत्र आया कि खेड़ा जिलेमें फसल नष्ट हो गई है और लगान माफ करानेकी जरूरत है। उन्होंने आग्रहपूर्वक लिखा था कि मैं वहां पहुंचू और लोगोंकी रहनुमाई करूं। मौके पर पहुंचकर जांच किये बिना कोई सलाह देनेकी मेरी इच्छा न थी, न मुझमें वैसी शक्ति या हिम्मत ही थी।

दूसरी ओरसे श्री अनसूयाबाईका पत्र उनके मजदूर-संघके बारेमें आया था। मजदूरोंकी तनख्वाहें कम थीं। तनख्वाह बढ़ानेकी उनकी मांग बहुत पुरानी थी। इस मामलेमें उनकी रहनुमाई करनेका उत्साह मुझमें था, लेकिन मुझमें यह क्षमता नहीं थी कि इस अपेक्षाकृत छोटे प्रतीत होनेवाले कामको भी मैं दूर बैठा कर सकूं। इसलिए मौका मिलते ही मैं तुरन्त अहमदाबाद पहुंचा।

अहमदाबादमें खेड़ा जिलेके बारेमें सलाह-मशविरा हो ही रहा था कि उसी बीच मैंने मजदूरोंका काम अपने हाथमें ले लिया।

मेरी हालत बहुत नाजुक थी। मजदूरोंका मामला मुझे मजबूत मालूम हुआ। मिल-मालिकोंके साथ मेरा संबंध मीठा था। उनके विरुद्ध लड़नेका काम विकट था। उनसे चर्चायें करके मैंने प्रार्थना की कि वे मजदूरोंकी मांगके संबंधमें पंच नियुक्त करें। किन्तु मालिकोंने अपने और मजदूरोंके बीच पंचके हस्तक्षेपके औचित्यको स्वीकार न किया।

मैंने मजदूरोंको हड़ताल करनेकी सलाह दी।

रोज नदी किनारे एक पेड़की छाया तले हड़तालियोंकी सभा होने लगी। उसमें वे रोज सैकड़ोंकी संख्यामें हाजिर रहते थे। मैं उन्हें रोज प्रतिज्ञाका स्मरण कराता था तथा शांति बनाये रखने और स्वाभिमानकी रक्षा करनेकी आवश्यकता समझाता था।

१२०. आश्रमकी झांकी

मजदूरोंकी बातको आगे चलानेसे पहले यहां आश्रमकी झांकी कर लेना आवश्यक है।

आश्रमकी जगह कोचरब गांवमें थी। वहां प्लेग शुरू हुआ। प्लेगको मैंने कोचरब छोड़नेका नोटिस माना। श्री पूंजाभाई हीराचन्दने आश्रमके लिए आवश्यक जमीनकी खोज तुरन्त ही कर लेनेका बीड़ा उठाया। उन्होंने आज जहां आश्रम है उस जमीनका पता लगा लिया। इसमें मेरे लिए खास प्रलोभन यह रहा कि यह जमीन जेलके पास है।

कोई आठ दिनके अन्दर ही जमीनका सौदा तय किया। जमीन पर न कोई मकान था, न कोई पेड़। नदीका किनारा और एकान्त, जमीनके हकमें ये दो बड़ी सिफारिशें थीं। हमने तम्बुओंमें रहनेका निश्चय किया और सोचा कि धीरे-धीरे स्थायी मकान बनाना शुरू कर देंगे।

स्थायी मकान बननेसे पहलेकी कठिनाइयोंका पार न था। बारिशका मौसम सामने था। इस निर्जन जमीनमें सांप वगैरा तो थे ही। रिवाज यह था कि सर्पादिको मारा न जाय। लेकिन उनके भयसे मुक्त तो हममें से कोई भी न था, आज भी नहीं है।

फीनिक्स, टॉल्स्टॉय फार्म और साबरमती, तीनों जगहोंमें हिंसक जीवोंको न मारनेके नियमका यथाशक्ति पालन किया गया है। तीनों जगहोंमें निर्जन जमीनें बसानी पड़ी हैं। तीनों स्थानोंमें सर्पादिका उपद्रव काफी रहा है। तिस पर भी आज तक एक भी जान खोनी न पड़ी, इसमें मेरे समान श्रद्धालुको तो ईश्वरके हाथका, उसकी कृपाका ही दर्शन होता है। कोई यह निरर्थक शंका न उठावे कि ईश्वर कभी पक्षपात नहीं करता; मनुष्यके दैनिक कामोंमें दखल देनेके लिए वह निकम्मा नहीं बैठा है, आदि। मैं इस चीजको, इस अनुभवको दूसरी भाषामें रखना नहीं जानता। ईश्वरकी कृतिको लौकिक भाषामें प्रकट करते हुए भी मैं जानता हूं कि उसका 'कार्य' अवर्णनीय है। किन्तु यदि पामर मनुष्य वर्णन करने बैठे, तो उसके पास तो अपनी तोतली बोली ही हो सकती है। साधारणतः सर्पादिको न मारने पर भी आश्रमवासियोंके पच्चीस वर्ष तक बचे रहनेको संयोग माननेके बदले ईश्वरकी कृपा मानना अगर वहम हो, तो ऐसा वहम भी संग्रहणीय है।

१२१. उपवास

मजदूरोंने शुरूके दो हफ्तों तक खूब हिम्मत दिखाई; शांति भी खूब रखी; प्रतिदिनकी सभाओंमें वे बड़ी संख्यामें हाजिर भी रहे। प्रतिज्ञाका स्मरण तो मैं उन्हें रोज कराता ही था। वे रोज पुकार-पुकार कर कहते थे — "हम मर मिटेंगे, लेकिन अपनी टेक कभी न छोड़ेंगे।"

लेकिन आखिर वे कमजोर पड़ने लगे और मुझे डर मालूम हुआ कि कहीं वे किसीके साथ जबरदस्ती न कर बैठें। मैं यह सोचने लगा कि ऐसे समयमें मेरा धर्म क्या हो सकता है। जिस प्रतिज्ञाके करनेमें मेरी प्रेरणा थी, जिसका मैं प्रतिदिन साक्षी बनता था, वह प्रतिज्ञा क्योंकर टूटे? इस विचारको आप चाहे मेरा अभिमान कहिये, चाहे मजदूरोंके प्रति और सत्यके प्रति मेरा प्रेम कहिये।

सवेरेका समय था। मैं सभामें बैठा था। मुझे कुछ पता न था कि मुझको क्या करना है। किन्तु सभामें ही मेरे मुंहसे निकल गया — "यदि मजदूर फिरसे तैयार न हों और फैसला होने तक हड़तालको चला न सकें, तो मैं तब तक उपवास करूंगा।"

जो मजदूर सभामें हाजिर थे, वे सब हक्के-बक्के रह गये। वे एकसाथ कह उठे — "आप नहीं, हम उपवास करेंगे। लेकिन आपको उपवास नहीं करने चाहिये। हमें माफ कीजिये, हम अपनी प्रतिज्ञा पालेंगे।"

मैंने कहा — "आपको उपवास करनेकी जरूरत नहीं। आपके लिए तो यही बस है कि आप अपनी प्रतिज्ञाका पालन करें। हमारे पास पैसा नहीं है। हम मजदूरोंको भीखका अन्न खिलाकर हड़ताल चलाना नहीं चाहते। आप कुछ मजदूरी कीजिये और उससे अपनी रोजकी रोटीके लायक पैसा कमा लीजिये; ऐसा आप करेंगे तो हड़ताल फिर कितने ही दिन क्यों न चले, आप निश्चिन्त रह सकेंगे। मेरा उपवास तो अब फैसलेसे पहले न टूटेगा।"

इस उपवासमें एक दोष था। मालिकोंके साथ मेरा संबंध मीठा था। इसलिए उन पर उपवासका प्रभाव पड़े बिना रह ही नहीं सकता था। मैं जानता था कि सत्याग्रहीके नाते मैं उनके विरुद्ध उपवास कर ही नहीं सकता। उन पर कोई प्रभाव पड़े, तो वह मजदूरोंकी हड़तालका ही पड़ना चाहिये। मेरा प्रायश्चित्त उनके दोषोंके लिए न था; मजदूरोंके दोषोंके निमित्तसे था। मैं मजदूरोंका प्रतिनिधि था, इसलिए उनके दोषसे मैं दोषित

होता था। मालिकोंसे मैं केवल प्रार्थना ही कर सकता था। उनके विरुद्ध उपवास करना उन पर ज्यादती करनेके समान था। फिर भी मैं जानता था कि मेरे उपवासका प्रभाव उन पर पड़े बिना रहेगा ही नहीं। प्रभाव पड़ा भी। किन्तु मैं अपने उपवासको रोक न सकता था। मैंने स्पष्ट देखा कि ऐसा दोषमय उपवास करना मेरा धर्म है।

मैंने मालिकोंको समझाया — "मेरे उपवासके कारण आपको अपना मार्ग छोड़नेकी तनिक भी जरूरत नहीं।" उन्होंने मुझे कड़वे-मीठे ताने भी दिये। उन्हें वैसा करनेका अधिकार था।

मालिक केवल दयावश होकर समझौता करनेका मार्ग ढूंढ़ने लगे। श्री आनन्दशंकर ध्रुव भी बीचमें पड़े। आखिर वे पंच बनाये गये और हड़ताल टूटी। मुझे केवल तीन उपवास करने पड़े। मालिकोंने मजदूरोंमें मिठाई बांटी। इक्कीस दिनमें समझौता हुआ।

१२२. खेड़ा-सत्याग्रह

मजदूरोंकी हड़ताल समाप्त होते ही मुझे खेड़ा जिलेके सत्याग्रहका काम हाथमें लेना पड़ा। उन दिनों मैं गुजरात-सभाका सभापति था। सभाने कमिश्नर और गवर्नरको प्रार्थनापत्र भेजे, तार किये, अपमान सहे। सभा उनकी धमकियां पी गई।

लोगोंकी मांग इतनी साफ और इतनी साधारण थी कि उसके लिए लड़ाई लड़नेकी जरूरत ही न होनी चाहिये थी। कानून यह था कि अगर फसल चार आना या उससे कम आवे, तो उस सालका लगान माफ किया जाना चाहिये। लेकिन सरकार क्यों मानने लगी? लोगोंकी ओरसे पंच बैठानेकी मांग की गई। सरकारको वह असह्य मालूम हुई। जितना अनुनय-विनय हो सकता था, सो सब कर चुकनेके बाद मैंने साथियोंसे परामर्श करके सत्याग्रह करनेकी सलाह दी।

पाटीदारोंके लिए इस प्रकारकी लड़ाई नई थी। गांव-गांव घूमकर इसका रहस्य समझाना पड़ता था। सरकारी अधिकारी जनताके मालिक नहीं बल्कि नौकर हैं, जनताके पैसेसे उन्हें तनख्वाह मिलती है, यह सब समझाकर उनका भय दूर करनेका काम मुख्य था। निर्भय होने पर भी विनयकी रक्षाका उपाय बताना और उसे गले उतारना लगभग असंभव-सा प्रतीत होता था। यदि सत्याग्रही अविनयी बनता है, तो वह दूधमें जहर मिलनेके समान है। विनय सत्याग्रहका कठिन-से-कठिन अंग है। यहां विनयका

अर्थ सम्मानपूर्वक वचन कहना ही नहीं है। विनयका अर्थ है विरोधीके प्रति भी मनमें आदर, सरल भाव, उसके हितकी इच्छा और तदनुरूप व्यवहार।

शुरूके दिनोंमें लोगोंमें खूब हिम्मत पाई गई। आरम्भमें सरकारकी कार्रवाई भी कुछ ढीली ही थी। लेकिन जैसे-जैसे लोगोंकी दृढ़ता बढ़ती मालूम हुई, वैसे-वैसे सरकारको भी अधिक उग्र कार्रवाई करनेकी इच्छा हुई। लोगोंमें घबराहट फैली। कुछने लगान जमा करा दिया। दूसरे मन ही मन यह चाहने लगे कि सरकारी अधिकारी उनका सामान जब्त करके लगान वसूल कर लें तो भर पाये। कुछ मर-मिटनेवाले भी निकले।

भयभीत लोगोंको प्रोत्साहित करनेके लिए मोहनलाल पंड्याके नेतृत्वमें मैंने एक ऐसे खेतमें खड़ी प्याजकी तैयार फसलको उतार लेनेकी सलाह दी, जो अनुचित रीतिसे जब्त किया गया था। मेरी दृष्टिमें इससे कानूनका भंग न होता था। लेकिन अगर कानून टूटता हो, तो भी मैंने यह सुझाया कि मामूली-से लगानके लिए समूची तैयार फसलको जब्त करना कानूनन् ठीक होने पर भी नीति-विरुद्ध है और स्पष्ट लूट है। अतएव इस प्रकार की गई जब्तीका अनादर करना धर्म है।

मोहनलाल पंड्या और उनके साथियोंके गिरफ्तार होने पर लोगोंका उत्साह बढ़ा।

इस लड़ाईका अन्त विचित्र रीतिसे हुआ। साफ था कि लोग थक चुके थे। मेरा झुकाव इस ओर था कि सत्याग्रहीके अनुरूप प्रतीत होनेवाला इसकी समाप्तिका कोई शोभाजनक उपाय मिल जाय, तो उसका सहारा लेना ठीक होगा। ऐसा एक उपाय अनसोचा सामने आ गया। नड़ियाद तालुकेके तहसीलदारने संदेशा भेजा कि अगर अच्छी हालतवाले पाटीदार लगान भर दें तो गरीबोंका लगान मुलतवी रहेगा। सारे जिलेकी जिम्मेदारी तो कलेक्टर ही उठा सकता था, इसलिए मैंने कलेक्टरसे पूछा। उनका जवाब मिला कि तहसीलदारने जो कहा है, उसके अनुसार तो हुक्म जारी हो ही चुका है। प्रतिज्ञामें यही वस्तु थी, इसलिए इस हुक्मसे हमने संतोष माना।

फिर भी इस प्रकारकी समाप्तिसे हम कोई प्रसन्न न हो सके। सत्याग्रहकी लड़ाईके पीछे जो मिठास होती है, वह इसमें नहीं थी। कलेक्टर मानता था कि उसने नया कुछ किया ही नहीं। गरीब लोगोंको छोड़नेकी बात कही जाती थी, किन्तु वे शायद ही छूट पाये। जनता यह कहनेका अधिकार आजमा न सकी कि गरीबमें किसकी गिनती की जाय। मुझे दुःख था कि जनतामें इस प्रकारकी शक्ति ही न थी। अतएव लड़ाईकी समाप्तिका उत्सव तो मनाया गया, परन्तु इस दृष्टिसे वह मुझे निस्तेज ही लगा।

सत्याग्रहका शुद्ध अन्त तभी माना जाता है, जब जनतामें आरंभकी अपेक्षा अन्तमें अधिक तेज और शक्ति पाई जाती है। मैं इसका दर्शन न कर सका।

फिर भी खेड़ाकी लड़ाईसे गुजरातके किसान-समाजकी जागृतिका और उसकी राजनीतिक शिक्षाका श्रीगणेश हुआ।

१२३. ऐक्यकी उत्कंठा

जिन दिनों खेड़ाका मामला चल रहा था, उन दिनों यूरोपका महायुद्ध भी जारी ही था। वाइसरॉयने उसके सिलसिलेमें नेताओंको दिल्ली बुलाया था। मुझसे आग्रह किया गया था कि मैं भी उसमें हाजिर होऊं।

मैंने निमंत्रण स्वीकार किया और मैं दिल्ली गया। किन्तु इस सभामें सम्मिलित होते समय मेरे मनमें एक संकोच था। मुख्य कारण यह था कि इस सभामें अलीभाइयोंको, लोकमान्यको और दूसरे नेताओंको निमंत्रित नहीं किया गया था। उस समय दोनों अलीभाई जेलमें थे।

इस बातको तो मैं दक्षिण अफ्रीकामें ही समझ चुका था कि हिन्दू-मुसलमानोंके बीच सच्चा मित्रभाव नहीं है। मैं वहां ऐसे एक भी उपायको हाथसे जाने न देता था, जिससे दोनोंके बीचकी खटाई दूर हो। झूठी खुशामद करके अथवा सत्त्व खोकर उनको या किसी औरको रिझाना मेरे स्वभावमें न था। लेकिन वहींसे मेरे दिलमें यह बात जम गई थी कि मेरी अहिंसाकी कसौटी और उसका विशाल प्रयोग इस एकताके सिलसिलेमें ही होगा। आज भी मेरी यह राय कायम है। ईश्वर प्रतिक्षण मुझे कसौटी पर कस रहा है।

इस प्रकारके विचार लेकर मैं बम्बईके बंदरगाह पर उतरा था, इसलिए वहां मुझे इन दोनों भाइयोंसे मिलना अच्छा लगा। हमारा स्नेह बढ़ता गया।

अलीभाइयोंको छुड़ानेके लिए मैंने सरकारके साथ पत्र-व्यवहार शुरू किया। उसके निमित्तसे मैंने इन भाइयोंकी खिलाफ़त-संबंधी हलचलका अध्ययन किया। मैंने अनुभव किया कि अगर मैं मुसलमानोंका सच्चा मित्र बनना चाहता हूं, तो मुझे अलीभाइयोंको छुड़ानेमें और खिलाफतके प्रश्नको न्यायपूर्वक सुलझानेमें पूरी मदद करनी चाहिये। मेरे लिए खिलाफतका सवाल सरल था। मुझे उसके स्वतंत्र गुण-दोष देखनेकी जरूरत न थी। मुझे यह लगा कि अगर उसके संबंधमें मुसलमानोंकी मांग नीति-विरुद्ध न हो,

तो मुझे उनकी मदद करनी चाहिये। मुझको खिलाफत-संबंधी मांग नीति-विरुद्ध नहीं प्रतीत हुई; बल्कि ब्रिटेनके प्रधानमंत्री लॉयड जॉर्जने इस मांगको कबूल किया था। इसलिए मुझे तो सिर्फ उनसे उनका वचन पलवानेका ही प्रयत्न करना था।

मैंने खिलाफतके मामलेमें मुसलमानोंका साथ दिया, इसलिए इस संबंधमें मित्रों और आलोचकोंने मेरी काफी आलोचना की है। उन सब पर विचार करनेके बाद जो राय मैंने बनाई और जो मदद दी तथा दिलाई, उसके बारेमें मुझे कोई पश्चात्ताप नहीं है।

१२४. रंगरूटोंकी भरती

मैं सभामें हाजिर हुआ। वाइसरॉयकी तीव्र इच्छा थी कि मैं सिपाहियोंकी मददवाले प्रस्तावका समर्थन करूं। मैंने हिन्दी-हिन्दुस्तानीमें बोलनेकी इजाजत चाही। वाइसरॉयने इजाजत दी, किन्तु साथ ही अंग्रेजीमें भी बोलनेको कहा। मैंने वहां जो कहा सो इतना ही था — "मुझे अपनी जिम्मेदारीका पूरा खयाल है; और उस जिम्मेदारीको समझते हुए भी मैं इस प्रस्तावका समर्थन करता हूं।"

हिन्दुस्तानीमें बोलनेके लिए मुझे बहुतोंने धन्यवाद दिया। वे कहते थे कि इधरके जमानेमें वाइसरॉयकी सभामें हिन्दुस्तानीमें बोलनेका यह पहला ही उदाहरण है। धन्यवादकी और पहले उदाहरणकी बात सुनकर मुझे दुःख हुआ। मैं शरमाया। अपने ही देशमें, देशसे संबंध रखनेवाले कामकी सभामें देशकी भाषाका बहिष्कार अथवा उसकी अवगणना कितने दुःखकी बात थी!

मुझे रंगरूटोंकी भरती करनी थी। इसकी याचना मैं खेड़ामें न करूं तो और कहां करूं? साथियोंमें से कुछके गले बात तुरंत उतरी नहीं। जिनके गले उतरी, उन्होंने कार्यकी सफलताके बारेमें शंका प्रकट की। जिन लोगोंमें से भरती करनी थी उन लोगोंमें सरकारके प्रति किसी प्रकारकी मुहब्बत न थी। सरकारके अफसरोंका उन्हें जो कड़वा अनुभव हुआ था वह अभी ताजा ही था।

फिर भी सब इस पक्षमें थे कि काम शुरू कर दिया जाय। शुरू करते ही मेरी आंख खुली। मेरा आशावाद भी कुछ शिथिल पड़ा।

धीरे-धीरे हमारे सतत कार्यका प्रभाव लोगों पर पड़ने लगा था। नाम भी काफी संख्यामें दर्ज होने लगे थे और हम यह मानने लगे थे कि अगर पहली टुकड़ी निकल पड़े, तो दूसरोंके लिए रास्ता खुल जायगा।

१२५. मौतके बिछौने पर

रंगरूटोंकी भरती करते-करते मेरा शरीर काफी क्षीण हो गया था। उन दिनों मेरे आहारमें मुख्यत: सिकी हुई और कुटी हुई मूंगफली, उसके साथ थोड़ा गुड़, केले वगैरा फल और दो-तीन नीबूका पानी, इतनी चीजें रहा करती थीं। मैं यह जानता था कि अधिक मात्रामें खानेसे मूंगफली नुकसान करती है। फिर भी वह अधिक खाई गई। उसके कारण पेटमें सहज ऐंठन रहने लगी। मुझे यह ऐंठन बहुत ध्यान देने योग्य प्रतीत न हुई। रात आश्रम पहुंचा। उन दिनों मैं दवा वगैरा क्वचित् ही लेता था। विश्वास यह था कि एक बारका खाना छोड़ देनेसे दर्द मिट जायेगा। दूसरे दिन सवेरे कुछ भी न खाया था, इसलिए यह दर्द लगभग बन्द हो चुका था।

उस दिन कोई त्यौहार था। मैंने कस्तूरबाईसे कह दिया था कि मैं दोपहरको भी नहीं खाऊंगा। लेकिन उसने मुझे ललचाया और मैं लालचमें फंस गया। मेरे लिए तेलमें भुने हुए गेहूंकी लपसी बनाई थी और खासकर मेरे ही लिए पूरे मूंग भी रख छोड़े थे। मैं स्वादके वश होकर ढीला पड़ा। फिर भी इच्छा तो यह रखी थी कि कस्तूरबाईको खुश करनेके लिए थोड़ा खा लूंगा, स्वाद भी ले लूंगा और शरीरकी रक्षा भी कर लूंगा। लेकिन जब खाने बैठा तो थोड़ा खानेके बदले पेट भर कर खा गया। इस प्रकार स्वाद तो पूरा किया, पर साथ ही मैंने यमराजको न्योता भी भेज दिया। खानेके बाद एक घण्टा भी न बीता कि जोरकी ऐंठन शुरू हो गई।

रात नड़ियाद तो वापस जाना ही था।

हम नड़ियाद पहुंचे। वहांसे अनाथाश्रम तक जाना था, जो आध-मीलसे कुछ कम ही दूर था। लेकिन उस दिन यह दूरी दस मीलके बराबर मालूम हुई। मैं बड़ी मुश्किलसे घर पहुंचा। लेकिन पेटका दर्द बढ़ता ही जाता था। १५-१५ मिनटसे पाखानेकी हाजत मालूम होती थी। आखिर मैं हारा। मैंने अपनी असह्य वेदना प्रकट की और बिछौना पकड़ा। चिन्तातुर होकर साथियोंने मुझे चारों ओरसे घेर लिया। उन्होंने मुझे अपने प्रेमसे नहलाया। मेरे हठका पार न था। डॉक्टरोंको बुलानेसे मैंने इनकार कर दिया। दवा तो लेनी ही न थी; सोचा, किये हुए पापकी सजा भोगूंगा। खाना मैं बन्द कर ही चुका था; और शुरूके दिनोंमें तो मैंने फलका रस भी न लिया।

आज तक जिस शरीरको मैं पत्थरके समान मानता था, वह अब गीली मिट्टी जैसा बन गया। शक्ति क्षीण हो गई। अतिशय परिश्रमके कारण बुखार आ गया और बेहोशी भी आई। मित्र अधिक घबराये।

सेठ अंबालाल और उनकी धर्मपत्नी दोनों नड़ियाद आये। साथियोंसे चर्चा करनेके वाद वे अत्यंत सावधानीके साथ मुझे मिरजापुरवाले अपने बंगले पर ले गये। इतनी बात तो मैं अवश्य कह सकता हूं कि अपनी बीमारीमें मुझे जो निर्मल और निष्काम सेवा प्राप्त हुई, उससे अधिक सेवा कोई पा नहीं सकता। मुझे हलका बुखार रहने लगा। मनमें एक विचार यह भी आया कि शायद मैं बिछौनेसे उठ न सकूंगा। सेठके बंगलेमें प्रेमसे घिरा होने पर भी मैं अशांत हो उठा और मैंने उनसे प्रार्थना की कि वे मुझे आश्रम ले चलें।

मैं अभी आश्रममें पीड़ा भोग ही रहा था कि इतनेमें वल्लभभाई समाचार लाये कि जर्मनी पूरी तरह हार चुका है और कमिश्नरने कहलवाया है कि अब रंगरूट भरती करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। यह सुनकर मैं भरतीकी चिन्तासे मुक्त हुआ और इससे मुझे शान्ति मिली।

उन दिनों मैं जलका उपचार करता था और उससे मेरा शरीर टिका हुआ था। पीड़ा शांत हुई थी, किन्तु शरीर किसी भी उपायसे पुष्ट नहीं हो रहा था। दो-तीन मित्रोंने सलाह दी कि दूध लेनेमें आपत्ति हो, तो मांसका शोरबा लेना चाहिये। एकने अण्डे लेनेकी सिफारिश की। लेकिन मैं इनमें से किसी भी सलाहको स्वीकार न कर सका। जिस धर्मका आचरण मैंने अपने पुत्रोंके लिए किया, स्त्रीके लिए किया, स्नेहियोंके लिए किया, उस धर्मका त्याग मैं अपने लिए कैसे करता?

इस प्रकार मुझे अपनी इस बहुत लम्बी और जीवनकी सबसे पहली बड़ी बीमारीमें धर्मका निरीक्षण करने और उसको कसौटी पर चढ़ानेका अलभ्य लाभ मिला। एक रातको तो मैंने बचनेकी बिलकुल आशा ही छोड़ दी थी। मुझे ऐसा भास हुआ कि अब मृत्यु समीप ही है। डॉ० कानूगाने नाड़ी देखी और कहा — "मैं खुद तो मरनेके कोई चिह्न देख नहीं रहा हूं। नाड़ी साफ है। केवल कमजोरीके कारण आपके मनमें घबराहट है।" लेकिन मेरा मन न माना। रात किसी तरह बीती, किन्तु उस रात मैं शायद ही सो सका होऊंगा।

सवेरा हुआ। मौत न आई। फिर भी उस समय मैं जीनेकी आशा न बांध सका और यह समझकर कि मृत्यु समीप है, जितनी देर बन सका उतनी देर तक साथियोंसे गीतापाठ सुननेमें लगा रहा। कामकाज करनेकी कोई शक्ति रही नहीं थी। थोड़ी बात करनेसे दिमाग थक जाता था। इस कारण जीनेमें कोई रस न रहा। जीनेके लिए जीना मुझे कभी पसन्द ही नहीं पड़ा।

मैं मौतकी राह देखता बैठा था, इतनेमें डॉ० तलवलकर एक विचित्र प्राणीको लेकर आये। वे मेरे समान 'चक्रम' हैं, सो तो मैं उन्हें देखते ही

समझ सका था। वे बरफके उपचारके बड़े हिमायती हैं। मेरी बीमारीकी बात सुनकर जिस दिन वे मुझ पर अपने बरफके उपचारको आजमानेके लिए आये, तबसे हम उन्हें 'आइस डॉक्टर' के उपनामसे पहचानते हैं। उनकी खोजें योग्य हों चाहे अयोग्य, मैंने उन्हें अपने शरीर पर प्रयोग करने दिये। मुझे बाह्य उपचारोंसे स्वस्थ होना अच्छा लगता था, सो भी बरफके यानी पानीके। अतएव उन्होंने मेरे सारे शरीर पर बरफ घिसना शुरू किया। इस इलाजसे जितने परिणामकी आशा वे लगाये हुए थे, उतना परिणाम तो मेरे संबंधमें नहीं निकला। फिर भी मैं जो रोज मौतकी बाट देखा करता था, उसके बदले अब कुछ जीनेकी आशा रखने लगा। कुछ उत्साह पैदा हुआ। मनके उत्साहके साथ मैंने शरीरमें भी उत्साहका अनुभव किया।

१२६. रौलेट एक्ट और मेरा धर्म-संकट

मित्रोंकी सलाह मानकर मैं माथेरान गया। पेचिशके कारण गुदाद्वार इतना नाजुक हो गया था कि साधारण स्पर्श भी सहा न जाता था; और उसमें दरारें पड़ गई थीं, जिससे मलत्यागके समय बहुत वेदना होती थी। एक हफ्तेमें माथेरानसे मैं वापस लौटा। मेरी तबीयतकी हिफाजतका जिम्मा शंकरलाल बैंकरने अपने हाथमें लिया था। उन्होंने डॉ० दलालसे सलाह लेनेका आग्रह किया। डॉक्टर दलाल आये। वे बोले:

"जब तक आप दूध न लेंगे, मैं आपके शरीरको फिरसे हृष्ट-पुष्ट न बना सकूंगा। आपको लोहे और 'आर्सेनिक' की पिचकारी लेनी चाहिये।"

मैंने जवाब दिया —"पिचकारी लगाइये, लेकिन दूध मैं न लूंगा।"

"दूधके संबंधमें आपकी प्रतिज्ञा क्या है?"

"यह जानकर कि गाय-भैंस पर फूंकेकी क्रिया की जाती है, मुझे दूधसे नफरत हो गई है। और यह तो मैं सदासे मानता रहा हूं कि दूध मनुष्यका आहार नहीं है। इसलिए मैंने दूध छोड़ दिया है।"

यह सुनकर कस्तूरबाई, जो खटियाके पास ही खड़ी थी, बोल उठी — "तब बकरीका दूध तो ले सकते हैं।"

डॉक्टर बीचमें ही बोले — "आप बकरीका दूध लें, तो मेरा काम बन जाय।"

मैं गिरा। सत्याग्रहकी लड़ाईके मोहने मेरे अन्दर जीनेका लोभ पैदा कर दिया। मैंने प्रतिज्ञाके अक्षरार्थका पालन करके संतोष माना और उसकी

आत्माका हनन किया। सत्यके पुजारीने सत्याग्रहकी लड़ाईके लिए जीनेकी इच्छा रखकर अपने सत्यको लांछित किया।

मेरे इस कार्यका डंक अभी तक साफ नहीं हुआ है। अहिंसाकी दृष्टिसे आज बकरीका दूध मुझे नहीं अखरता। वह अखरता है सत्यकी दृष्टिसे। मुझे ऐसा भास होता है कि मैं अहिंसाको जितना पहचान सका हूं, सत्यको उससे अधिक पहचानता हूं। मेरा अनुभव यह है कि अगर मैं सत्यको छोड़ दूं, तो अहिंसाकी भारी गुत्थियां मैं कभी सुलझा ही नहीं सकता। मुझे हर दिन यह बात खटकती रहती है कि मैंने व्रतकी आत्माका — भावार्थका हनन किया है। यह जानते हुए भी मैं यह न जान सका कि अपने व्रतके प्रति मेरा क्या धर्म है, अथवा यह कहिये कि मुझमें उसे पालनेकी हिम्मत नहीं है। दोनों बातें एक ही हैं, क्योंकि शंकाके मूलमें श्रद्धाका अभाव रहता है।

बकरीका दूध शुरू करनेके कुछ दिन बाद डॉ० दलालने गुदाद्वारकी दरारोंका ऑपरेशन किया और वह बहुत सफल हुआ।

बिछौना छोड़कर उठनेकी कुछ आशा बंध रही थी और मैं अखबार वगैरा पढ़ने लगा ही था कि इतनेमें रौलेट कमेटीकी रिपोर्ट मेरे हाथमें आई। उसकी सिफारिशें पढ़कर मैं चौंका। भाई उमर सोबानी और शंकरलाल बैंकरने चाहा कि कोई निश्चित कदम उठाना चाहिये। एकाध महीनेमें मैं अहमदाबाद गया। मैंने वल्लभभाईसे बातचीत की।

इस बातचीतके परिणामस्वरूप यह निश्चय हुआ कि ऐसे कुछ लोगोंकी एक छोटी सभा बुलाई जाय, जो मेरे संपर्कमें काफी आ चुके हैं।

सभा हुई। उसमें मुश्किलसे कोई बीस लोगोंको बुलाया गया था। प्रतिज्ञा-पत्र तैयार हुआ और जितने लोग हाजिर थे उन सबने उस पर हस्ताक्षर किये। मैंने अखबारोंमें लिखना शुरू किया और शंकरलाल बैंकरने जोरका आन्दोलन चलाया।

सत्याग्रह-सभाकी स्थापना हुई। मैंने देखा कि शिक्षित समाजके और मेरे बीच बहुत मेल नहीं बैठ सकता। सभामें गुजराती भाषाके उपयोगके मेरे आग्रहने और मेरे कुछ दूसरे तरीकोंने उन्हें परेशानीमें डाल दिया। फिर भी बहुतोंने मेरे तरीकेको निबाहनेकी उदारता दिखाई। लेकिन मैंने शुरूमें ही देख लिया कि यह सभा लम्बे समय तक नहीं टिक सकेगी। इसके सिवा, सत्य और अहिंसा पर मैं जो जोर देता था, वह कुछ लोगोंको अप्रिय मालूम हुआ। फिर भी शुरूके दिनोंमें यह नया काम धड़ल्लेके साथ आगे बढ़ा।

१२७. वह अद्भुत दृश्य !

रौलेट बिल प्रकाशित हुआ। मैंने वाइसरॉयसे मिलकर उन्हें बहुत मनाया, खानगी पत्र लिखे, सार्वजनिक पत्र भी लिखे। मैंने उन्हें स्पष्ट बता दिया कि सत्याग्रहको छोड़कर मेरे पास दूसरा कोई मार्ग नहीं है। लेकिन सब व्यर्थ हुआ।

मेरा शरीर कमजोर था, फिर भी मैंने लंबी यात्राका खतरा उठाया। मैंने महसूस किया कि मद्राससे आये हुए निमंत्रणको अवश्य स्वीकार करना चाहिये। मद्रास जाने पर पता चला कि उसके मूलमें राजगोपालाचार्य थे। राजगोपालाचार्यके साथ यह मेरा पहला परिचय कहा जा सकता है।

बिल कानूनकी शकलमें गजटमें छपा। इस खबरके बादकी रातको मैं विचार करते-करते सो गया। अर्धनिद्राकी दशा रही होगी। सपनेमें मुझे एक विचार सूझा। मैंने सवेरे ही सवेरे राजगोपालाचार्यको बुलाया और कहा :

"मुझे रात स्वप्नावस्थामें यह विचार सूझा कि इस कानूनके जवाबमें हम सारे देशको हड़ताल करनेकी सूचना दें। धर्मकार्यको शुद्धिपूर्वक करना ठीक मालूम होता है। अतएव उस दिन सब उपवास करें और काम-धन्धा बन्द रखें।"

राजगोपालाचार्यको यह सूचना बहुत अच्छी लगी। दूसरे मित्रोंने भी उसका स्वागत किया। मैंने एक छोटी-सी विज्ञप्ति तैयार कर ली। पहले १९१९ के मार्चकी ३०वीं तारीख रखी गई थी। बादमें छठी अप्रैल रखी गई। चूंकि काम तुरन्त करना जरूरी समझा गया था, अतएव तैयारीके लिए लम्बी मुद्दत देनेका समय ही न था।

लेकिन न जाने कैसे सारी व्यवस्था हो गई। समूचे हिन्दुस्तानमें — शहरोंमें और गांवोंमें — हड़ताल हुई। वह दृश्य भव्य था।

१२८. वह सप्ताह ! — १

दिल्लीमें ३० मार्चके दिन ही हड़ताल मनाई गई थी। जैसी हड़ताल उस दिन रही वैसी पहले कभी रही ही न थी। हिन्दू और मुसलमान दोनों एकदिल होने लगे थे। श्रद्धानन्दजीको जामा मसजिदमें बुलाया गया था। सत्ताधारी यह सब सहन न कर सके। दिल्लीमें दमन-नीति शुरू हुई। श्रद्धानन्दजीने मुझे दिल्ली बुलाया।

जो हाल दिल्लीका था वही हाल लाहौर और अमृतसरका भी रहा। डॉ० सत्यपाल और किचलूके तार थे कि मुझे वहां तुरन्त पहुंचना चाहिए।

६ अप्रैलके दिन बम्बईमें सवेरे-सवेरे हजारों लोग चौपाटी पर स्नान करने गये और वहांसे ठाकुरद्वार जानेके लिए जुलूस रवाना हुआ। इस जुलूसमें से मुसलमान भाई हमें एक मसजिदमें ले गये। वहां श्री सरोजिनी-देवीका और मेरा भाषण कराया।

बम्बईमें सम्पूर्ण हड़ताल रही।

यहां हमने कानूनके सविनय-भंगकी तैयारी कर रखी थी। सरकारने मेरी 'हिन्द स्वराज्य' और 'सर्वोदय' नामक जिन पुस्तकोंका प्रकाशन रोक दिया था, उन्हें छपाना-बेचना सबसे आसान सविनय-भंग मालूम हुआ। इसलिए ये पुस्तकें छपाई गईं और शामको उपवास छूटनेके बाद और चौपाटीकी जंगी सभाके विसर्जित होने पर इन्हें बेचनेका प्रबन्ध किया गया।

शामको बहुतसे स्वयंसेवक ये पुस्तकें बेचनेके लिए निकल पड़े। एक मोटरमें मैं निकला। अपनी जेबमें जो था सो सब देकर किताबें खरीदनेवाले बहुतेरे निकल आये। लोगोंको समझा दिया गया था कि खरीदनेवालेको भी जेल जानेका खतरा उठाना पड़ सकता है। लेकिन कुछ समयके लिए लोगोंने जेलका भय छोड़ दिया था।

७ तारीखको पता चला कि जिन किताबोंके बेचने पर सरकारने रोक लगायी थी, सरकारकी दृष्टिसे वे बेची नहीं गई हैं। सरकारकी ओरसे यह कहा गया था कि नई आवृत्ति छपाने, बेचने और खरीदनेमें कोई गुनाह नहीं है। यह खबर सुनकर लोग निराश हुए।

उस दिन सवेरे लोगोंको चौपाटी पर स्वदेशी-व्रत और हिन्दू-मुस्लिम-एकताका व्रत लेनेके लिए इकट्ठा होना था। पर बहुत थोड़े लोग इकट्ठे हुए थे। मैं उसी समयसे यह अनुभव करता रहा हूं कि धूम-धड़क्केके काम और धीमे रचनात्मक कामके बीच क्या भेद है और लोगोंमें पहले कामके प्रति पक्षपात और दूसरेके प्रति अरुचि क्यों है।

७ अप्रैलकी शामको मैं दिल्ली-अमृतसर जानेके लिए रवाना हुआ। ८ अप्रैलको मथुरा पहुंचने पर कुछ ऐसी भनक कान तक आई कि शायद मुझे गिरफ्तार करेंगे। पलवल स्टेशन आनेसे पहले पुलिस अधिकारीने मेरे हाथमें हुक्म रखा कि मुझे पंजाबकी सरहदमें दाखिल नहीं होना चाहिये। हुक्म देनेके बाद पुलिसने मुझे उतर जानेको कहा। मैंने उतरनेसे इनकार किया।

मुझे पलवल स्टेशन पर उतार लिया गया और पुलिसके हवाले किया गया। मुझे दिल्लीसे आनेवाली किसी ट्रेनके तीसरे दर्जेके डिब्बेमें बैठाया गया और साथमें पुलिसका दल भी बैठा। मथुरा पहुंचने पर मुझे पुलिसकी बारकमें

ले गये। सुबह चार बजे मुझे जगाया गया और बम्बईकी कोई मालगाड़ी जा रही थी उसमें बैठाया गया। दोपहरको मुझे सवाई माधोपुर पर उतारा गया। वहां मुझे बम्बईकी डाकगाड़ीमें पहले दर्जेमें सवार कराया गया। अभी तक मैं मामूली कैदी था, अब 'जेण्टलमैन कैदी' माना जाने लगा।

सूरत पहुंचने पर किसी दूसरे अधिकारीने मुझे अपने कब्जेमें लिया। उसने मुझसे रास्तेमें कहा—"आप रिहा कर दिये गये हैं। लेकिन आपके लिए मैं ट्रेनको मरीन लाइन्स स्टेशनके पास रुकवाऊंगा; आप वहां उतरेंगे तो ज्यादा अच्छा होगा।"

मैं मरीन लाइन्स पर उतरा। वहां किसी परिचितकी घोड़ागाड़ी दिखाई पड़ी। वे मुझे रेवाशंकर झवेरीके घर छोड़ आये। उन्होंने मुझे खबर दी—"लोग गुस्सा हो उठे हैं और पागल बन गये हैं। पायधूनीके पास उपद्रवका डर है।"

उमर सोबानी और अनसूयाबहन दोनों मोटरमें आये और मुझे पायधूनी ले गये। लोगोंने मुझे देखा और वे हर्षसे उन्मत्त हो उठे। अब जुलूस तैयार हुआ।

जुलूसको क्रॉफर्ड मारकेटकी ओर जानेसे रोकनेके लिए घुड़सवारोंकी एक टुकड़ी सामनेसे आ पहुंची। लोगोंने पुलिसकी पांतको चीरकर आगे बढ़नेके लिए जोर लगाया। वहां ऐसी स्थिति न थी कि मेरी आवाज सुनाई पड़े। घुड़सवारोंकी टुकड़ीके अफसरने भीड़को तितर-बितर करनेका हुक्म दिया, और अपने भालोंको घुमाते हुए इस टुकड़ीने एकदम घोड़े दौड़ाने शुरू कर दिये। लोगोंकी भीड़में दरार पड़ी। भगदड़ मच गई। कोई कुचले गये, कोई घायल हुए। सारा दृश्य भयंकर प्रतीत हुआ। घुड़सवार और जनता दोनों पागल-जैसे लगे।

लोग बिखर गये। हमारी मोटर आगे बढ़ी और मैं पुलिसके व्यवहारके संबंधमें कमिश्नरसे शिकायत करनेके लिए उतर गया।

१२९. वह सप्ताह ! — २

मैंने कमिश्नरसे उस दृश्यका वर्णन किया, जिसे मैं अभी-अभी देखकर आया था। उन्होंने संक्षेपमें जवाब दिया – "मैं नहीं चाहता था कि जुलूस फोर्टकी ओर जाये। वहां जाने पर उपद्रव हुए विना न रहता।"

मैंने कहा — "लेकिन मेरा खयाल यह है कि घुड़सवारोंकी टुकड़ी भेजनेकी कोई जरूरत न थी।"

"आप इसे नहीं जान सकते। आपकी शिक्षाका लोगों पर क्या असर हुआ है, इसका पता आपकी अपेक्षा हम पुलिसवालोंको अधिक रहता है। मैं आपसे कहता हूं कि लोग आपके कब्जेमें भी नहीं रहेंगे। वे कानूनको तोड़नेकी बात तो झट समझ जायेंगे, लेकिन शांतिकी बात समझना उनकी शक्तिसे परे है। आपके हेतु अच्छे हैं, लेकिन लोग उन्हें समझेंगे नहीं।"

मैंने जवाब दिया — "किन्तु आपके और मेरे बीच जो भेद है, सो इसी बातमें है। मैं कहता हूं कि लोग स्वभावसे लड़ाकू नहीं, बल्कि शांतिप्रिय हैं।"

हम दलीलमें उतरे। आखिर साहबने कहा — "अच्छी बात है। अगर आपको विश्वास हो जाय कि लोग आपकी शिक्षाको समझे नहीं हैं, तो आप क्या करेंगे।"

मैंने जवाब दिया — "यदि मुझे इसकी प्रतीति हो जाय, तो मैं इस लड़ाईको मुलतवी कर दूंगा।"

"अगर आप धैर्यसे काम लेंगे, तो आपको अधिक पता चलेगा। आप जानते हैं, अहमदाबादमें क्या हो रहा है? अमृतसरमें क्या हुआ है? इस सारे उपद्रवकी जिम्मेदारी आपके सिर है।"

मैंने कहा — "मुझे जहां अपनी जिम्मेदारी महसूस होगी, वहां मैं उसे अपने ऊपर लिये बिना रहूंगा नहीं। यदि अहमदाबादमें लोग कुछ भी करते हैं, तो मुझे आश्चर्य और दुःख होगा। अमृतसरके बारेमें मैं कुछ नहीं जानता। वहां तो मैं कभी गया ही नहीं। यदि पंजाबकी सरकारने मुझे वहां जानेसे रोका न होता, तो मैं शांतिरक्षामें बहुत मदद कर सकता था।"

इस तरह हमारी बातचीत होती रही। मैं यह कहकर बिदा हुआ कि चौपाटी पर सभा करने और लोगोंको शांति रखनेके लिए समझानेका मेरा इरादा है। चौपाटी पर सभा हुई।

मैं अहमदाबाद गया। वहां तो मार्शल लॉ शुरू हो चुका था। कुछ लोगोंमें भय फैला हुआ था। लोगोंने जैसा किया वैसा पाया और उसका ब्याज भी उन्हें मिला।

मुझे कमिश्नरके पास ले जानेके लिए एक आदमी स्टेशन पर हाजिर था। मैं उनके पास गया। वे बहुत गुस्सेमें थे। मैंने उन्हें शांतिसे जवाब दिया। यह भी सुझाया कि मार्शल लॉकी आवश्यकता नहीं है; और फिरसे शांति स्थापित करनेके लिए जो उपाय करने चाहिये, सो करनेकी अपनी तैयारी बताई। मैंने आम सभा बुलानेकी मांग की। उन्हें यह बात अच्छी लगी। मैंने सभा की। लोगोंको उनके दोष दिखानेका प्रयत्न किया। प्रायश्चित्तके रूपमें मैंने तीन दिनके उपवास किये और लोगोंको सलाह दी कि वे एक दिनका उपवास करें। जिन्होंने खून वगैरामें हिस्सा लिया हो, उन्हें मैंने सुझाया कि वे अपना गुनाह कबूल कर लें।

जिस प्रकार मैंने लोगोंको सुझाया कि वे अपना गुनाह कबूल कर लें, उसी प्रकार सरकारको भी गुनाह माफ करनेकी सलाह दी। दोनोंमें से किसी एकने भी मेरी यह बात न सुनी। न लोगोंने अपने दोष स्वीकार किये, न सरकारने किसीको माफ किया।

मैंने निश्चय कर लिया कि जब तक लोग शांतिका पाठ न सीखें, तब तक सत्याग्रह मुलतवी रखा जाय।

कुछ मित्र नाराज हुए। उनका खयाल यह था कि अगर मैं सब कहीं शांतिकी आशा रखूं और सत्याग्रहकी यही शर्त रहे, तो बड़े पैमाने पर सत्याग्रह चल ही नहीं सकेगा। मैंने अपना मतभेद प्रकट किया। जिन लोगोंमें काम किया हो, जिनके द्वारा सत्याग्रह करनेकी आशा रखी जाती हो, वे यदि शांतिका पालन न करें, तो सत्याग्रह चल ही नहीं सकता। मेरी दलील यह थी कि सत्याग्रही नेताओंको इस प्रकारकी मर्यादित शांति बनाये रखनेकी शक्ति प्राप्त करनी चाहिये। अपने इन विचारोंको मैं आज भी बदल नहीं सका हूं।

१३०. 'पहाड़ जैसी भूल'

अहमदाबादकी सभाके बाद मैं तुरंत नड़ियाद गया। 'पहाड़ जैसी भूल' नामक शब्द-प्रयोग मैंने पहली बार नड़ियादमें किया। मैं जिस सभामें भाषण कर रहा था, उसमें मुझे अचानक यह खयाल आया कि खेड़ा जिलेके लोगोंको और ऐसे दूसरे लोगोंको कानूनका सविनय-भंग करनेके लिए निमंत्रित करनेमें मैंने जल्दबाजीकी भूल की थी, और वह भूल मुझे पहाड़ जैसी प्रतीत हुई।

इस प्रकार अपनी भूल कबूल करनेके लिए मेरी काफी हंसी उड़ाई गई, फिर भी अपनी इस स्वीकृतिके लिए मुझे कभी पश्चात्ताप नहीं हुआ।

जब हम दूसरोंके गज बराबर दोषोंको रजवत् मानकर देखते हैं और अपने रजवत् प्रतीत होनेवाले दोषोंको पहाड़ जैसा देखना सीखते हैं, तभी हमें अपने और पराये दोषोंका ठीक-ठीक अंदाज हो पाता है। सत्याग्रही बननेकी इच्छा रखनेवालेको तो इस साधारण नियमका पालन बहुत अधिक सूक्ष्मताके साथ करना चाहिये।

अब हम यह देखें कि पहाड़ जैसी लगनेवाली वह भूल क्या थी। कानूनका सविनय-भंग उन्हीं लोगों द्वारा किया जा सकता है, जिन्होंने विनयपूर्वक और स्वेच्छासे कानूनकी कद्र की हो। अधिकतर तो हम कानूनका पालन इसलिए करते हैं कि उसे तोड़ने पर जो सजा होती है उससे हम डरते हैं। यह बात उस कानून पर विशेष रूपसे घटित होती है, जिसमें नीति-अनीतिका प्रश्न नहीं होता। कानून हो चाहे न हो, फिर भी जो लोग भले माने जाते हैं, वे एकाएक कभी चोरी नहीं करते। लेकिन जब बाइसिकल पर बत्ती जलानेके नियमका पालन करनेकी कोई सलाह-भर देता है, तो भले आदमी भी उसका पालन करनेके लिए तुरन्त तैयार नहीं होते; किन्तु जब उसे कानूनमें स्थान मिलता है, तो दण्डकी असुविधासे बचनेके लिए ही वे बाइसिकल पर बत्ती जलाते हैं। इस प्रकारका नियम-पालन स्वेच्छासे किया हुआ नहीं कहा जा सकता।

लेकिन सत्याग्रही समाजके जिन कानूनोंकी कद्र करेगा, उनकी वह सोच-समझकर, स्वेच्छासे और कद्र करना धर्म है ऐसा मानकर कद्र करेगा। जिसने इस प्रकार समाजके नियमोंका विचारपूर्वक पालन किया है उसीको समाजके नियमोंमें नीति-अनीतिका भेद करनेकी शक्ति प्राप्त होती है और उसीको सीमित परिस्थितियोंमें अमुक नियमोंको तोड़नेका अधिकार प्राप्त होता है। लोगोंके इस तरहका अधिकार प्राप्त करनेसे पहले मैंने उन्हें सविनय-भंगके लिए निमंत्रित किया, अपनी यह भूल मुझे पहाड़ जैसी लगी।

यह तो सहज ही समझमें आ सकता है कि इस प्रकारकी आदर्श स्थिति तक हजारों या लाखों लोग नहीं पहुंच सकते। किन्तु यदि बात ऐसी है तो कानूनकी सविनय अवज्ञा करानेसे पहले शुद्ध स्वयंसेवकोंका एक ऐसा दल खड़ा होना चाहिये, जो लोगोंको ये सारी बातें समझाये और प्रतिक्षण उनका मार्गदर्शन करे; और ऐसे दलको सविनय अवज्ञाका तथा उसकी मर्यादाका पूरा-पूरा ज्ञान होना चाहिये।

इन विचारोंसे भरा हुआ मैं बम्बई पहुंचा और सत्याग्रह-सभाके जरिये मैंने सत्याग्रही स्वयंसेवकोंका एक दल खड़ा किया। लोगोंको सविनय अवज्ञाका मर्म समझानेके लिए जिस तालीमकी जरूरत थी, वह इस दलके जरिये देनी शुरू की और इस बातको समझानेवाली पत्रिकायें निकालीं।

यह काम शुरू तो हुआ, लेकिन मैंने देखा कि मैं इसमें बहुत दिलचस्पी पैदा न कर सका। स्वयंसेवकोंकी भीड़ इकट्ठी न हुई। जिन्होंने अपने नाम दर्ज कराये थे, वे भी दृढ़ बननेके बदले खिसकने लगे। मैं समझ गया कि सविनय-भंगकी गाड़ी जितना सोचा था उससे धीमी चलेगी।

१३१. 'नवजीवन' और 'यंग इंडिया'

सरकारी दमन-नीति पूरे जोरके साथ चल रही थी। पंजाबमें उसके प्रभावका साक्षात्कार हुआ। वहां फौजी कानून यानी मनमानी शुरू हो गई।

मुझ पर दबाव पड़ने लगा कि मैं जैसे भी बने, पंजाब पहुंचूं। मैंने वाइसरॉयको पत्र लिखे, तार भेजे, लेकिन पंजाब जानेकी इजाजत न मिली। बिना इजाजतके जाने पर मैं अन्दर नहीं जा सकता था; मुझे सविनय अवज्ञा करनेका संतोष-मात्र मिल सकता था। मैंने अनुभव किया कि निषेधाज्ञाका अनादर करके प्रवेश करूंगा, तो वह विनयपूर्ण अनादर न माना जायगा। मेरे द्वारा की गई कानूनकी अवज्ञा जलतेमें घी डालने जैसी सिद्ध होगी। पंजाबमें प्रवेश करनेकी सलाहको मैंने सहसा माना नहीं। मेरे लिए यह निर्णय एक कड़वा घूंट था।

इतनेमें लोगोंको सोता छोड़कर सरकार मि० हॉर्निमैनको चुरा ले गई। फलत: 'क्रॉनिकल' के व्यवस्थापकोंने उसे चलानेका बोझ मुझ पर डाला। लेकिन मुझे यह जिम्मेदारी लम्बे समय तक उठानी न पड़ी। सरकारकी मेहरबानीसे वह बन्द हो गया।

जो लोग 'क्रॉनिकल' की व्यवस्थाके कर्ताधर्ता थे, उन्हींके हाथमें 'यंग इंडिया' की व्यवस्था भी थी। उन्होंने मुझे सुझाया कि मैं 'यंग इंडिया' की जिम्मेदारी अपने सिर ले लूं। सत्याग्रहका रहस्य समझानेका उत्साह मुझमें था ही। इसलिए मैंने मित्रोंका यह सुझाव मान लिया।

लेकिन अंग्रेजीके द्वारा जनताको सत्याग्रहकी तालीम कैसे दी जा सकती थी? मेरे कार्यका मुख्य क्षेत्र गुजरातमें था। उक्त मित्रोंने 'नवजीवन' मेरे हवाले किया और उसे मासिकके बदले साप्ताहिक बनाया।

इन पत्रोंके जरिये मैंने जनताको यथाशक्ति सत्याग्रहकी तालीम देना शुरू किया। इनमें विज्ञापन न लेनेका मेरा आग्रह शुरूसे ही था। मैं मानता हूं कि इससे कोई हानि नहीं हुई और इस प्रथाके कारण दोनों पत्रोंके विचार-स्वातंत्र्यकी रक्षा करनेमें बहुत मदद मिली।

इन पत्रों द्वारा मैं अपनी शांति प्राप्त कर सका; क्योंकि यद्यपि मैं सविनय अवज्ञाको तुरंत ही शुरू न कर पाया, फिर भी मैं अपने विचार स्वतंत्रतापूर्वक प्रकट कर सका।

१३२. पंजाबमें

मैं पंजाब जानेके लिए अधीर हो रहा था। लेकिन मेरा जाना आगे-आगे टलता जाता था। वाइसरॉय लिखाते रहते थे कि 'अभी जरा देर है।' आखिर जवाब आया — 'आप अमुक तारीखको जा सकते हैं।' बहुत करके तारीख १७ अक्तूबर थी।

मैं लाहौर पहुंचा। स्टेशन पर लोगोंका समुदाय इस कदर इकट्ठा हुआ था, मानो बरसोंके वियोगके बाद कोई प्रियजन आ रहा हो और सगे-सम्बन्धी उसे मिलने आये हों। लोग हर्षोन्मत्त हो गये थे।

बहुतेरे पंजाबी नेता जेलमें थे, अतएव मुख्य नेताओंका स्थान पंडित मालवीयजी, पंडित मोतीलालजी और स्वामी श्रद्धानन्दजीने लिया था। इन नेताओंने और दूसरे स्थानीय नेताओंने मुझे फौरन ही अपना बना लिया। कहीं भी मैं किसीको अपरिचित-सा नहीं लगा।

हम सबने सर्व-सम्मतिसे निश्चय किया कि हण्टर-कमेटीके सामने गवाही न दी जाय और यह तय किया कि लोगोंकी ओरसे अर्थात् कांग्रेसकी ओर से एक कमेटी बननी चाहिये। पंडित मालवीयजीने यह कमेटी नियुक्त की। कमेटीकी व्यवस्थाका बोझ सहज ही मुझ पर आ पड़ा था; और चूंकि अधिक-से-अधिक गांवोंकी जांचका काम मेरे हिस्से आया था, इसलिए मुझे पंजाब और पंजाबके गांव देखनेका अलभ्य लाभ मिला।

लोगों पर ढाये गये जुल्मोंकी जांच करते समय मैं जैसे-जैसे गहरा पैठने लगा, वैसे-वैसे सरकारी अराजकताकी, अधिकारियोंकी नादिरशाही और निरंकुशताकी अपनी कल्पनासे परेकी बातें सुनकर मुझे आश्चर्य हुआ और मैंने दुःखका अनुभव किया। जिस पंजाबसे सरकारको अधिक-से-अधिक सिपाही मिलते हैं, उस पंजाबमें लोग इतना ज्यादा जुल्म कैसे सहन कर सके, यह बात मुझे उस समय भी आश्चर्यजनक मालूम हुई थी और आज भी मालूम होती है।

इस कमेटीकी रिपोर्ट तैयार करनेका काम भी मुझे ही सौंपा गया था। इस रिपोर्टके बारेमें मैं इतना कह सकता हूं कि उसमें जान-बूझकर एक भी जगह अतिशयोक्ति नहीं हुई है। जहां तक मैं जानता हूं, उसकी एक भी बात आज तक झूठ साबित नहीं हुई है।

१३३. खिलाफतके बदले गोरक्षा ?

कांग्रेसकी ओरसे पंजाबकी डायरशाहीकी जांच हो रही थी। उन्हीं दिनों मेरे हाथमें एक सार्वजनिक निमंत्रण आया। यह निमंत्रण दिल्लीमें हिन्दू-मुसलमानोंकी एक मिली-जुली सभामें हाजिर रहनेका था, जिसमें खिलाफतके सिलसिलेमें पैदा हुई हालत पर विचार करना था और यह तय करना था कि सुलहके उत्सवमें सम्मिलित हुआ जाय या नहीं। यह सभा नवम्बर महीनेमें थी।

मैं सभामें हाजिर रहा। सभाके सामने खिलाफतके प्रश्नके साथ गो-रक्षाका प्रश्न भी था। मेरी दलील यह थी कि दोनों प्रश्नों पर उनके अपने गुण-दोषकी दृष्टिसे विचार करना चाहिये। यदि खिलाफतके मामलेमें सरकारकी ओरसे अन्याय होता हो, तो हिन्दुओंको मुसलमानोंका साथ देना चाहिये; और इस प्रश्नके साथ गोरक्षाके प्रश्नको नहीं जोड़ना चाहिये। पड़ोसी और एक ही भूमिके निवासी होनेके नाते तथा हिन्दुओंकी भावनाका आदर करनेकी दृष्टिसे मुसलमानोंका स्वतंत्र रूपसे गोवध बन्द करना उनके लिए शोभाकी बात है, उनका फर्ज है; और यह एक स्वतंत्र प्रश्न है। अगर यह फर्ज है और मुसलमान इसे अपना फर्ज समझें, तो हिन्दू खिला-फतके काममें मदद दें या न दें, तो भी मुसलमानोंको गोवध बन्द करना चाहिये। मैंने अपनी तरफसे यह दलील पेश की कि इस तरह दोनों प्रश्नोंका विचार स्वतंत्र रीतिसे किया जाना चाहिये और इसलिए इस सभामें तो सिर्फ खिलाफतके प्रश्नकी चर्चा करना ही मुनासिब है। गोरक्षाके प्रश्न पर सभामें चर्चा नहीं हुई। लेकिन मौलाना अब्दुल बारी साहबने कहा —"हिन्दू खिलाफतके मामलेमें मदद दें चाहे न दें, लेकिन चूंकि हम एक ही मुल्कके रहनेवाले हैं, इसलिए हम मुसलमानोंको हिन्दुओंके जजबातकी खातिर गोकुशी बन्द करनी चाहिये।" कुछ समयके लिए तो ऐसा ही मालूम हुआ कि मुसलमान सचमुच गोवध बन्द कर देंगे।

कई प्रस्तावोंमें से एक प्रस्ताव यह भी था कि हिन्दू-मुसलमान सबको स्वदेशी-व्रतका पालन करना चाहिये और इसके लिए विदेशी कपड़ेका बहिष्कार करना चाहिये। मौलाना हसरत मोहानीको यह प्रस्ताव जंच नहीं रहा था। उन्होंने सुझाया कि यथासंभव हरएक ब्रिटिश मालका बहिष्कार करना चाहिये। मैंने हर तरहके ब्रिटिश मालके बहिष्कारकी अशक्यता और अनौचित्यके बारेमें अपनी दलील पेश की। मैंने अपनी अहिंसा-वृत्तिका भी प्रतिपादन किया। मैं मौलानाका भाषण सुन रहा था। मुझे खयाल आया कि विदेशी वस्त्रके बहिष्कारके अलावा भी दूसरी कोई नई चीज सुझानी चाहिये। मैं यह सोचा करता था कि मौलाना खुद कई मामलोंमें जिस

सरकारका साथ दे रहे हैं, उस सरकारके विरोधकी बात करना उनके लिए बेकार है। तलवारसे तो विरोध करना नहीं था, इसलिए मुझे लगा कि साथ न देनेमें ही सच्चा विरोध है। और फलतः मैंने 'नॉन-कोऑपरेशन' शब्दका इस सभामें पहली बार उपयोग किया। इसके समर्थनमें मैंने अपनी दलीलें दीं। उस समय मुझे इसका कोई खयाल ही न था कि इस शब्दमें किन-किन बातोंका समावेश हो सकता है। इसलिए मैं तफसीलमें नहीं जा सका। मैंने कहा — "अगर कहीं सुलहकी शर्तें मुसलमान भाइयोंके खिलाफ गईं, तो वे सरकारकी सहायता करना बन्द कर देंगे। खिलाफतका फैसला हमारे खिलाफ हो, तो मदद न करनेका हमें हक है।"

कुछ महीनों तक यह शब्द उस सभामें ही दबा रह गया। जब अमृतसरमें कांग्रेसका अधिवेशन हुआ और वहां मैंने सहयोगके प्रस्तावका समर्थन किया, तब मैंने यही आशा रखी थी कि हिन्दू-मुसलमानोंके लिए असहयोग करनेका अवसर नहीं आयेगा।

१३४. अमृतसर-कांग्रेस

अब तक कांग्रेसमें मेरा काम इतना ही रहता था कि हिन्दीमें अपना छोटा-सा भाषण करूं, हिन्दीकी वकालत करूं और उपनिवेशोंमें रहनेवाले हिन्दुस्तानियोंका मामला पेश करूं। मुझे खयाल नहीं था कि अमृतसरमें मुझे इससे अधिक कुछ करना पड़ेगा। लेकिन जैसा कि मेरे संबंधमें पहले भी हो चुका है, जिम्मेदारी मुझ पर अचानक आ पड़ी।

नये सुधारों-सम्बन्धी सम्राट्का आदेश प्रकट हो चुका था। वह मुझे पूर्ण संतोष देनेवाला नहीं था; अन्य किसीको तो वह बिलकुल ही पसन्द न पड़ा। लेकिन उस समय मैंने यह माना था कि उक्त आदेशमें सूचित सुधार त्रुटिपूर्ण होते हुए भी स्वीकार किये जा सकते हैं। किन्तु लोकमान्य, चित्तरंजन दास आदि अनुभवी योद्धा सिर हिला रहे थे।

मैंने देखा कि सुधारोंवाले प्रस्तावकी चर्चामें भाग लेना मेरा धर्म है। मैंने अनुभव किया कि सुधार स्वीकार करनेका प्रस्ताव मंजूर किया जाना चाहिये। चित्तरंजन दासका दृढ़ मत यह था कि इन सुधारोंको बिलकुल असंतोषकारक और अधूरे मानकर उनकी अवगणना करनी चाहिये।

परखे हुए सर्वमान्य लोकनायकोंके साथ अपना मतभेद मुझे स्वयं असह्य मालूम हुआ। दूसरी ओर मेरा अन्तर्नाद स्पष्ट था। मैंने कांग्रेसकी बैठकमें से भागनेका प्रयत्न किया। पं० मोतीलाल नेहरू और मालवीयजीको मैंने सुझाया

कि वे मुझे गैर-हाजिर रहने दें। लेकिन मेरा यह सुझाव दोनों बुजुर्गोंके गले न उतरा। जब बात लाला हरकिसनलालके कान तक पहुंची, तो उन्होंने कहा— "यह हरगिज न होगा।" उन्होंने मत गिननेकी संतोषजनक व्यवस्था कर देनेका जिम्मा लिया।

आखिर मैं हारा। मैंने अपना प्रस्ताव तैयार किया। मि० जिन्ना और मालवीयजी उसका समर्थन करनेवाले थे। भाषण हुए। मैं देख रहा था कि सभा किसी प्रकारके मतभेदको सह नहीं सकती और नेताओंके मतभेदसे उसे दुःख हो रहा है।

जिस समय नेताओंके भाषण हो रहे थे, उस समय भी मंच पर मतभेद मिटानेके प्रयत्न जारी थे। आखिर समझौता हुआ। तालियोंकी गड़गड़ाहटसे मंडप गूंज उठा और लोगोंके चेहरों पर जो गंभीरता थी उसके बदले अब खुशी चमक उठी।

समझौतेने मेरी जिम्मेदारी बढ़ा दी।

१३५. कांग्रेसमें प्रवेश

मुझे कांग्रेसमें भाग लेना पड़ा, इसे मैं कांग्रेसमें अपना प्रवेश नहीं मानता। अमृतसरके अनुभवने यह सिद्ध कर दिया कि मेरी एक-दो शक्तियां कांग्रेसके लिए उपयोगी हैं। पंजाब-समितिके मेरे कामसे लोकमान्य, मालवीयजी, मोतीलालजी, देशबन्धु आदि खुश हुए थे। इसलिए उन्होंने मुझे अपनी बैठकों और चर्चाओंमें बुलाया। विषय-विचारिणी समितिका सच्चा काम ऐसी बैठकोंमें होता था।

अगले साल करने योग्य कामोंमें से दो कामोंमें मुझे दिलचस्पी थी, क्योंकि उनमें मैं कुछ दखल रखता था।

एक था जलियांवाला बागके हत्याकांडका स्मारक। उसके लिए करीब पांच लाख रुपयेकी रकम इकट्ठी करनी थी। उसके रक्षकों (ट्रस्टियों)में मेरा नाम था। रक्षकका पद स्वीकार करते ही मैं समझ गया था कि इस स्मारकके लिए धन-संग्रह करनेका मुख्य बोझ मुझ पर ही पड़ेगा। बम्बईके उदार नागरिकोंने इस स्मारकके लिए दिल खोलकर धन दिया।

मेरी दूसरी शक्ति मुंशीका काम करनेकी थी। कहां क्या और कितने कम शब्दोंमें अविनय-रहित भाषामें लिखना चाहिये सो मैं जानता था। नेतागण मेरी इस शक्तिको समझ गये थे। सबको यह अनुभव होने लगा था कि उन दिनों कांग्रेसका जो विधान था, उससे अब काम नहीं चल सकता।

विधान तैयार करनेका भार मैंने अपने सिर लिया। मैंने लोकमान्यसे और देशबंधुसे उनके विश्वासके दो नाम मांगे। लोकमान्यने श्री केलकरका और देशबन्धुने श्री आई० बी० सेनका नाम दिया। यह विधान-समिति एक दिन भी साथ मिलकर न बैठी। फिर भी हमने अपना यह काम एकरायसे पूरा किया। हमने पत्र-व्यवहारसे अपना काम चला लिया। मुझे इस विधानके वारेमें थोड़ा अभिमान है। मैं यह मानता हूं कि इस दायित्वको स्वीकार करके मैंने कांग्रेसमें सच्चा प्रवेश किया।

१३६. खादीका जन्म

मुझे याद नहीं पड़ता कि सन् १९०८ तक मैंने चरखा या करघा कहीं देखा हो। फिर भी 'हिन्द स्वराज्य' में मैंने यह माना था कि चरखेके जरिये हिन्दुस्तानकी गरीबी मिट सकती है। जब सन् १९१५ में दक्षिण अफ्रीकासे देश वापस आया, तब भी मैंने चरखेके दर्शन नहीं किये थे। आश्रमके खुलने पर उसमें करघा शुरू किया। करघा शुरू करनेमें भी मुझे बड़ी मुश्किलका सामना करना पड़ा। हम सब कलम चलानेवाले या व्यापार करना जाननेवाले वहां इकट्ठे हुए थे। हममें कोई कारीगर न था। लेकिन मगनलाल गांधीके हाथमें तो कारीगरी थी ही। इसलिए उन्होंने बुननेकी कलाको पूरी तरह समझ लिया और एकके बाद एक आश्रममें नये-नये बुननेवाले तैयार हुए।

हमें तो अब अपने कपड़े खुद ही तैयार करके पहनने थे। इसलिए आश्रमवासियोंने मिलके कपड़े पहनना बन्द किया और निश्चय किया कि हम हाथ-करघे पर देशी मिलके सूतसे बुना हुआ कपड़ा ही पहनेंगे। जुलाहोंके पाससे देशी मिलके सूतका हाथ-बुना कपड़ा आसानीसे मिलता न था। बड़ी कोशिशके बाद कुछ जुलाहे मिले, जिन्होंने देशी सूतका कपड़ा बुन देनेकी मेहरबानी की।

अब हम अपने हाथसे कातनेके लिए अधीर हो उठे। हमने समझ लिया कि जब तक हाथसे कातेंगे नहीं, तब तक हमारी पराधीनता बनी रहेगी। मिलोंके एजेंट बनकर हम देशसेवा करते हैं, ऐसा हमें प्रतीत न हुआ।

लेकिन न तो कहीं चरखा था और न कोई चरखेका चलानेवाला।

सन् १९१७ में भड़ौंच शिक्षा-परिषद्में महान साहसी विधवा बहन गंगाबाई अचानक मेरे हाथ लग गईं। मैंने अपना दुःख उनके सामने रखा। और जिस तरह दमयन्ती नलके पीछे भटकी थी, उसी तरह चरखेकी खोजमें भटकनेकी प्रतिज्ञा करके उन्होंने मेरा बोझ हलका किया।

१३७. आखिर चरखा मिला

गुजरातमें काफी भटकनेके बाद गायकवाड़के बीजापुर गांवमें गंगाबहनको चरखा मिला। मेरे हर्षका पार न रहा। भाई उमर सोबानीसे चर्चा करने पर उन्होंने अपनी मिलसे पूनियां भेजते रहनेका जिम्मा लिया। मैंने पूनियां गंगाबहनके पास भेजीं और सूत इतनी तेजीसे तैयार होने लगा कि मैं थक गया।

मुझे मिलकी पूनियोंसे सूत कतवाना बहुत दोषपूर्ण मालूम हुआ। मैंने गंगाबहनको लिखा कि वे पूनी बनानेवालेकी खोज करें। उन्होंने इसका जिम्मा लिया और पिंजारेको खोज निकाला। बच्चोंको पूनी बनाना सिखाया। गंगाबहनने काम एकदम बढ़ा दिया। बुननेवालेको बसाया और कता हुआ सूत बुनवाना शुरू किया। बीजापुरकी खादी मशहूर हो गई।

अब आश्रममें चरखेको दाखिल होनेमें देर न लगी।

मैं शुद्ध खादीमय बननेके लिए अधीर हो उठा। मेरी धोती देशी मिलके कपड़ेकी थी। मैंने गंगाबहनको चेतावनी दी कि अगर वे एक महीनेके अन्दर ४५ इंच अर्जकी खादीकी धोती तैयार करके न देंगी, तो मुझे मोटी खादीका पंचा पहनकर अपना काम चलाना पड़ेगा। उन्होंने एक महीनेके अन्दर मेरे लिए पचास इंच अर्जका धोती-जोड़ा तैयार करा दिया और मेरा दारिद्र्य मिटाया।

१३८. एक संवाद

जिस समय 'स्वदेशी' के नामसे परिचित यह आन्दोलन चलने लगा, उस समय मिल-मालिकोंकी ओरसे मेरे पास काफी टीकायें आने लगीं। भाई उमर सोबानीने मुझे एक मिल-मालिकके पास ले जानेकी बात कही। मैंने उसका स्वागत किया। हम उनके पास गये। उन्होंने बंग-भंगके समय स्वदेशी आन्दोलनके चलनेसे स्वदेशी कपड़ेकी कीमत बढ़नेकी बात की और कहा — "हिन्दुस्तानको जितने मालकी जरूरत है, उतना माल हम उत्पन्न नहीं करते। इसलिए स्वदेशीका प्रश्न मुख्यतः उत्पादनका प्रश्न है। जब हम आवश्यक मात्रामें कपड़ा पैदा कर सकेंगे और कपड़ेकी जातिमें सुधार कर सकेंगे, तब विदेशी कपड़ा अपने-आप आना बन्द हो जायगा। इसलिए आपको मेरी सलाह तो यह है कि आप अपने स्वदेशी आन्दोलनको जिस तरह चला रहे हैं उस तरह न चलायें और नई मिलें खोलनेकी ओर ध्यान दें। अपने

देशमें हमें स्वदेशी मालको बेचनेका आन्दोलन चलानेकी जरूरत नहीं है, बल्कि स्वदेशी माल पैदा करनेकी जरूरत है।"

मैं बोला—"अगर मैं यही काम करता होऊं, तब तो आप मुझे आशीर्वाद देंगे न?"

"सो कैसे? अगर आप मिल खोलनेका प्रयत्न करते हों, तो आप धन्यवादके पात्र हैं।"

"ऐसा तो मैं नहीं कर रहा हूं, पर मैं चरखेके काममें लगा हुआ हूं।"

"यह क्या चीज है?"

मैंने चरखेकी बात कह सुनाई और कहा:

"मैं आपके विचारसे सहमत हूं। मुझे मिलोंकी दलाली नहीं करनी चाहिये। मुझे तो उत्पादन करनेमें और जो कपड़ा उत्पन्न हो उसे बेचनेमें लग जाना चाहिये। मैं इस प्रकारकी स्वदेशीमें विश्वास करता हूं; क्योंकि इसके द्वारा हिन्दुस्तानकी भूखों मरनेवाली और आधे समय बेकार रहनेवाली औरतोंको काम दिया जा सकता है। मैं नहीं जानता कि चरखेकी यह प्रवृत्ति कितनी सफल होगी। अभी तो उसका आरंभ-काल ही है। पर मुझे उसमें पूरा विश्वास है। कुछ भी हो, उसमें नुकसान तो हरगिज नहीं है। इस प्रवृत्तिसे हिन्दुस्तानमें पैदा होनेवाले कपड़ेमें जितनी वृद्धि होगी उतना लाभ ही होगा। इसलिए इस प्रयत्नमें वह दोष तो है ही नहीं, जिसका अभी आपने जिक्र किया है।"

"अगर आप इस तरह इस प्रवृत्तिको चलाना चाहते हैं, तो मुझे कुछ कहना नहीं है। यह एक अलग प्रश्न है कि इस युगमें चरखा चलेगा या नहीं। मैं तो आपकी सफलता ही चाहता हूं।"

१३९. असहयोगका प्रवाह

खिलाफतके मामलेमें अलीभाइयोंका जबरदस्त आन्दोलन चल रहा था। मौलाना अब्दुल बारी वगैरा उलेमाओंके साथ इस विषयकी खूब चर्चायें हुईं। इस बारेमें खूब चर्चा और विवेचन हुआ कि मुसलमान शांतिको, अहिंसाको, कहां तक पाल सकते हैं। आखिर यह तय हुआ कि अमुक हद तक युक्तिके रूपमें उसका पालन करनेमें कोई एतराज नहीं हो सकता। और अगर किसीने एक बार अहिंसाकी प्रतिज्ञा की है, तो वह उसे पालनेके लिए बंधा हुआ है। आखिर खिलाफत-परिषद्में असहयोगका प्रस्ताव पेश हुआ और बड़ी चर्चाके बाद वह मंजूर हुआ।

कांग्रेसकी महासमितिने इस प्रश्न पर विचार करनेके लिए कांग्रेसका एक विशेष अधिवेशन सन् १९२० के सितम्बर महीनेमें कलकत्तेमें बुलानेका निश्चय किया।

मेरे प्रस्तावमें खिलाफत और पंजाबके अन्यायको ध्यानमें रखकर ही असहयोगकी बात कही गई थी। श्री विजयराघवाचार्यको इसमें कोई दिलचस्पी न मालूम हुई। उन्होंने कहा, "यदि असहयोग ही करना है, तो वह अमुक अन्यायके लिए ही क्यों किया जाय? स्वराज्यका अभाव बड़े-से-बड़ा अन्याय है। अतएव उसके लिए असहयोग किया जा सकता है।" मोतीलालजी भी स्वराज्यकी मांगका प्रस्ताव शामिल कराना चाहते थे। मैंने तुरन्त ही इस सूचनाको मान लिया और प्रस्तावमें स्वराज्यकी मांग भी सम्मिलित कर दी। विस्तृत, गंभीर और कुछ तीखी चर्चाओंके बाद असहयोगका प्रस्ताव पास हुआ।

कांग्रेसके विशेष अधिवेशनमें स्वीकृत असहयोगके प्रस्तावको नागपुरमें होनेवाले कांग्रेसके वार्षिक अधिवेशनमें कायम रखना था। वहां भी असहयोगका प्रस्ताव पास हो गया।

इसी बैठकमें कांग्रेसके विधानका प्रस्ताव भी पास करना था। विधानमें विषय-विचारिणी समितिने एक ही महत्त्वका परिवर्तन किया था। मैंने प्रतिनिधियोंकी संख्या पंद्रह सौकी मानी थी। विषय-विचारिणी समितिने इसे बदल कर छह हजार कर दिया। मैं मानता था कि यह कदम बिना सोचे-विचारे उठाया गया है। मैं इस कल्पनाको बिलकुल गलत मानता हूं कि बहुतसे प्रतिनिधियोंसे काम अधिक अच्छा होता है अथवा प्रजातंत्रकी अधिक रक्षा होती है। प्रजातंत्रकी रक्षाके लिए जनतामें स्वतंत्रताकी, स्वाभिमानकी और एकताकी भावना होनी चाहिये और अच्छे तथा सच्चे प्रतिनिधियोंको ही चुननेका आग्रह रखना चाहिये।

इसी सभामें हिन्दू-मुस्लिम-एकताके बारेमें, अन्त्यजोंके बारेमें और खादीके बारेमें भी प्रस्ताव पास हुए। उस समयसे कांग्रेसके हिन्दू सदस्योंने अस्पृश्यताको मिटानेका भार अपने ऊपर लिया है और खादीके द्वारा कांग्रेसने अपना संबंध हिन्दुस्तानके नर-कंकालोंके साथ जोड़ा है। कांग्रेसने खिलाफतके सवालके सिलसिलेमें असहयोगका निश्चय करके हिन्दू-मुस्लिम-एकता सिद्ध करनेके लिए एक महान प्रयास किया था।

पूर्णाहुति

अब इन अध्यायोंको समाप्त करनेका समय आ पहुंचा है।

पाठकोंसे बिदा लेते हुए मुझे दुःख होता है। मेरे निकट अपने इन प्रयोगोंकी वहुत कीमत है। मैं नहीं जानता कि मैं उनका यथार्थ वर्णन कर सका हूं या नहीं। यथार्थ वर्णन करनेमें मैंने कोई कसर नहीं रखी है। सत्यको मैंने जिस रूपमें देखा है, जिस मार्गसे देखा है, उसे प्रकट करनेका मैंने सतत प्रयत्न किया है और पाठकोंके लिए उसका वर्णन करके चित्तमें शांतिका अनुभव किया है; क्योंकि मैंने आशा यह रखी है कि इससे पाठकोंके मनमें सत्य और अहिंसाके प्रति अधिक आस्था उत्पन्न होगी।

मैंने सत्यसे भिन्न किसी परमेश्वरका कभी अनुभव नहीं किया। यदि इन अध्यायोंके प्रत्येक पृष्ठसे पाठकोंको यह प्रतीति न हुई हो कि सत्यमय वननेके लिए अहिंसा ही एकमात्र मार्ग है, तो मैं इस प्रयत्नको व्यर्थ समझता हूं। प्रयत्न चाहे व्यर्थ हो, किन्तु वचन व्यर्थ नहीं है। मेरी अहिंसा सच्ची होने पर भी कच्ची है, अपूर्ण है। अतएव हजारों सूर्योंको एकत्र करनेसे भी जिस सत्यरूपी सूर्यके तेजका पूरा माप नहीं निकल सकता, सत्यकी मेरी झांकी ऐसे सूर्यकी एक किरणमात्रके दर्शनके समान ही है। उसका सम्पूर्ण दर्शन सम्पूर्ण अहिंसाके बिना असंभव है।

ऐसे व्यापक सत्यनारायणके प्रत्यक्ष दर्शनके लिए जीवमात्रके प्रति आत्मवत् प्रेमकी परम आवश्यकता है। और जो मनुष्य ऐसा करना चाहता है, वह जीवनके किसी भी क्षेत्रसे बाहर नहीं रह सकता। यही कारण है कि सत्यकी मेरी पूजा मुझे राजनीतिमें खींच ले गई है। मुझे यह कहते हुए संकोच नहीं होता और न ही मैं ऐसा कहनेमें कोई अविनय देखता हूं कि जो मनुष्य यह कहता है कि धर्मका राजनीतिसे कोई संबंध नहीं है, वह धर्मको नहीं जानता।

आत्मशुद्धिके बिना जीवमात्रके साथ ऐक्य सध ही नहीं सकता। आत्मशुद्धिके बिना अहिंसा-धर्मका पालन सर्वथा असंभव है। अशुद्धात्मा परमात्माके दर्शन करनेमें असमर्थ है। अतएव जीवन-मार्गके सभी क्षेत्रोंमें शुद्धिकी आव-

श्यकता है और यह शुद्धि साध्य है, क्योंकि व्यक्ति और समष्टिके बीच ऐसा निकटका संबंध है कि एकको शुद्धि अनेकोंकी शुद्धिके बराबर हो जाती है। और व्यक्तिगत प्रयत्न करनेकी शक्ति तो सत्यनारायणने सबको जन्मसे ही दी है।

लेकिन मैं तो प्रतिक्षण यह अनुभव करता हूं कि शुद्धिका यह मार्ग विकट है। शुद्ध बननेका अर्थ है मनसे, वचनसे और कायासे निर्विकार बनना, राग-द्वेषादिसे रहित होना। इस निर्विकारता तक पहुंचनेके लिए प्रतिक्षण प्रयत्न करते हुए भी मैं पहुंच नहीं पाया हूं। इसलिए लोगोंकी स्तुति मुझे भुलावेमें नहीं डाल सकती। यह स्तुति प्रायः मुझे खटकती है। मनके विकारोंको जीतना संसारको शस्त्रयुद्धसे जीतनेकी अपेक्षा भी मुझे ज्यादा कठिन मालूम होता है। हिन्दुस्तानमें आनेके बाद भी मैं अपने अंदर छिपे हुए विकारोंको देख सका हूं, शरमिंदा हुआ हूं, किन्तु हारा नहीं हूं। सत्यके प्रयोग करते हुए मैंने रस लूटा है, आज भी लूट रहा हूं। लेकिन मैं जानता हूं कि अभी मुझे विकट मार्ग पूरा करना है; इसके लिए मुझे शून्यवत् बनना है। जब तक मनुष्य स्वेच्छासे अपनेको सबसे नीचे नहीं रखता तब तक उसे मुक्ति नहीं मिलती। अहिंसा नम्रताकी पराकाष्ठा है। और यह अनुभव-सिद्ध बात है कि इस नम्रताके बिना मुक्ति कभी नहीं मिलती। ऐसी नम्रताके लिए प्रार्थना करते हुए और उसके लिए संसारकी सहायताकी याचना करते हुए इस समय तो मैं इन अध्यायोंको समाप्त करता हूं।
